विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २७ अंक २

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून

* १९८९ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी श्रीकरानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए)–१००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२ ००९

स्वागत प्रणाम !

श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज
रामकृष्ण मठ/मिशन, बेलुड़ मठ
के नवनिर्वाचित महाध्यक्ष

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २७] **अप्रैल-मई-जून** [अंक २

★ १९८९ ★

विपत्ति स्थायी नहीं !

छिन्नोऽपि रोहति तरुः
क्षीणोऽप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः ।
इति विमृशन्तः सन्तः
सन्तप्यन्ते न विप्लुता लोके ।।

—कटा हुआ पेड़ फिर से हरा-भरा हो फैल जाता है। क्षीण हुआ चन्द्रमा भी फिर धीरे-धीरे बढ़कर पूर्ण हो जाता है। इस बात को समझकर सज्जन लोग विपत्ति आने पर नहीं घबराते।

—भर्तृहरिकृत 'नीतिशतकम्', ८७

अग्नि-मन्त्र

(श्री ई. टी. स्टर्डी को लिखित)

१९ पश्चिम ३८वाँ रास्ता, न्यूयार्क,
९ अगस्त, १८९५

प्रिय मित्र,

...केवल यही उचित है कि मैं अपने कुछ विचार तुम्हारे सामने प्रकट करूँ। मैं पूर्ण विश्वास करता हूँ कि मानव-समाज में आजकल ऐसी ही खलबली फैली हुई है। यद्यपि ऐसी क्रान्ति अनेक छोटे छोटे विभागों में विभक्त दिखाई देती है, परन्तु मूलत: ये सब एक ही हैं, क्योंकि उनके पीछे जो कारण हैं, उनके रूप भी एक ही हैं। वह धार्मिक क्रान्ति, जिससे इस समय विचारवान् व्यक्ति दिन-प्रतिदिन अत्यधिक मात्रा में प्रभावित होते जा रहे हैं—उसका एक वैशिष्ट्य यह है कि उससे जितने क्षुद्र-क्षुद्र मतवाद उत्पन्न हो रहे हैं, वे सब उसी एक अद्वैत सत्ता की अनुभूति एवं अनुसन्धान में ही सचेष्ट हैं। भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्तरों पर यह एक भाव दिखाई दे रहा है कि विभिन्न मतवाद-समूह क्रमश: अधिकाधिक उदार होते हुए उसी शाश्वत एकत्व की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस कारण वर्तमान काल के सभी आन्दोलन जान या अनजान में सर्वोत्तम आविष्कृत एकत्ववादी दर्शन के अर्थात् अद्वैत वेदान्त के प्रतिरूप हैं।

फिर यह भी सर्वदा देखा गया है कि प्रत्येक युग में इन समस्त विभिन्न मतवादों के संघर्ष के फलस्वरूप अन्त

में एक ही मतवाद जीवित रहता है। अन्य सब तरंगें उसी मतवाद में विलीन होने के लिए एवं उसे एक बृहद् भाव-तरंग में परिणत करने के लिए ही उठती हैं, जो समाज को अप्रतिहत वेग के साथ प्लावित कर देता है।

इस समय भारत, अमेरिका एवं इंग्लैण्ड में (जिन देशों का हाल मैं जानता हूँ) सैकड़ों ऐसे मतवादों का संघर्ष चल रहा है। भारत में द्वैतवाद क्रमशः क्षीण हो रहा है, केवल अद्वैतवाद ही सब क्षेत्रों में प्रभावशाली है। अमेरिका में प्राधान्य-लाभ के लिए अनेक मतवादों के बीच संघर्ष उपस्थित हुआ है। ये सभी अल्प या अधिक मात्रा में अद्वैत भाव के प्रतिरूप हैं, और जो भाव-परम्परा जितनी अधिक तीव्र गति से फैल रही है, वह उतनी ही मात्रा में अन्य भावों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के अधिक निकट प्रतीत होती है। अब मुझे यदि कुछ स्पष्ट दिखाई देता है, तो वह यह कि इनमें से एक ही भाव-परम्परा जीवित रहेगी एवं वह सबको निगलकर भविष्य में शक्तिमान् होगी। किन्तु वह कौन-सी भाव-प्रणाली होगी?

यदि हम इतिहास को देखें, तो विदित होगा कि जो विचारधारा सर्वश्रेष्ठ होगी, वही जीवित रहेगी; और चरित्र की अपेक्षा अन्य ऐसी कौनसी शक्ति है, जो जीने की योग्यता प्रदान कर सकती है? विचारशील मनुष्य-जाति का भावी धर्म अद्वैत ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। और सब सम्प्रदायों में उन्हीं की विजय होगी, जो अपने जीवन में सबसे अधिक चरित्र का उत्कर्ष दिखा सकेंगे—चाहे वे सम्प्रदाय कितनी ही दूर भविष्य में क्यों न जन्म लें।

एक मेरी निजी अनुभव की बात सुनो। जब मेरे

गुरुदेव ने शरीर त्यागा था, तब हम लोग बारह निर्धन और अज्ञात नवयुवक थे। हमारे विरुद्ध अनेक शक्तिशाली संस्थाएँ थीं, जो हमारी सफलता के शैशवकाल में ही हमें नष्ट करने का भरसक प्रयत्न कर रही थीं। परन्तु श्री-रामकृष्ण देव ने हमें एक बड़ा दान दिया था—वह यह कि केवल बातें ही न कर यथार्थ जीवन जीने की इच्छा, आजीवन उद्योग और विरामहीन साधना के लिए अनु-प्ररणा। और आज सारा भारत मेरे गुरुदेव को जानता है और पूज्य मानता है और वे सत्य-समूह, जिनकी उन्होंने शिक्षा दी थी, अब दावानल के समान फैल रहे हैं। दस वर्ष हुए, उनका जन्मोत्सव मनाने के लिए मैं सौ मनुष्यों को भी इकट्ठा नहीं कर सकता था और पिछले वर्ष पचास सहस्र थे!

न संख्या-शक्ति, न धन, न पाण्डित्य, न वाक्चातुर्य, कुछ भी नहीं, बल्कि पवित्रता, शुद्ध जीवन, एक शब्द में अनुभूति, आत्म-साक्षात्कार को विजय मिलेगी। प्रत्येक देश में सिंह जैसी शक्तिमान् दस-बारह आत्माएँ होने दो, जिन्होंने अपने बन्धन तोड़ डाले हैं, जिन्होंने 'अनन्त' का स्पर्श कर लिया है, जिनका चित्त ब्रह्मानुसन्धान में लीन है, जो न धन की चिन्ता करते हैं, न बल की, न नाम की—और ये व्यक्ति ही संसार को हिला डालने के लिए पर्याप्त होंगे।

यही रहस्य है। योगप्रवर्तक पतंजलि कहते हैं, "जब मनुष्य समस्त अलौकिक दैवी शक्तियों के लोभ का त्याग करता है, तभी उसे धर्ममेघ नामक समाधि प्राप्त होती है।"* वह परमात्मा का दर्शन करता है, वह परमात्मा

*प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

वन जाता है और दूसरों को तद्‌रूप बनने में सहायता करता है। मुझे इसी का प्रचार करना है। जगत् में अनेक मतवादों का प्रचार हो चुका है। लाखों पुस्तकें हैं, परन्तु हाय ! कोई भी किंचित् अंश में प्रत्यक्ष आचरण नहीं करता।

सभाएँ और संस्थाएँ अपने आप उत्पन्न हो जाएँगी। क्या वहाँ ईर्ष्या हो सकती है, जहाँ ईर्ष्या करने की कोई वस्तु न हो ? जो हमें हानि पहुँचाना चाहेंगे, ऐसे लोग असंख्य होंगे। परन्तु हमारे ही पक्ष में सत्य है, इसका क्या यह निश्चित प्रमाण नहीं है ? जितना ही मेरा विरोध हुआ है, उतनी ही मेरी शक्ति का विकास हुआ है। राजाओं ने मुझे अनेक बार निमंत्रित किया और पूजा है। पुरोहितों और जनसाधारण ने मेरी निन्दा की है। परन्तु इससे क्या? सबको आशीर्वाद ! वे सब तो मेरी स्वयं आत्मा है और क्या उन्होंने कमानीदार पटरे (spring-board) के समान मेरी सहायता नहीं की, जहाँ से उछलकर मेरी शक्ति अधिकाधिक विकास कर सकी है ?

...एक महान् रहस्य का मैंने पता लगा लिया है—वह यह कि केवल धर्म की बातें करनेवालों से मुझे कुछ भय नहीं है। और जो सत्यद्रष्टा महात्मा हैं, वे कभी किसी से वैर नहीं करते। वाचालों को वाचाल होने दो ! वे इससे अधिक और कुछ नहीं जानते ! उन्हें नाम, यश, धन, स्त्री से सन्तोष प्राप्त करने दो। और हम धर्मोपलब्धि, ब्रह्मलाभ एवं ब्रह्म होने के लिए ही दृढ़व्रत होंगे। हम आमरण एवं जन्म-जन्मान्तर में सत्य का ही सतत अनु-सरण करेंगे। दूसरों के कहने पर हम तनिक भी ध्यान न दें और यदि आजन्म यत्न के बाद एक, केवल एक ही आत्मा

संसार के बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो सके, 'तो हमने अपना काम कर लिया।' हरि ओम्!

...एक बात और। निस्सन्देह मुझे भारत से प्रेम है। परन्तु दिन-प्रतिदिन मेरी दृष्टि स्पष्टतर होती जा रही है। हमारे लिए भारत या इंग्लैण्ड या अमेरिका क्या है? हम उस प्रभु के दास हैं, जिसे अज्ञानी कहते हैं 'मनुष्य'। जो जड़ में पानी डालता है, वह क्या पूरे वृक्ष को नहीं सींचता?

सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक कल्याण की एक ही नींव है—और वह है यह जानना कि 'मैं और मेरा भाई एक हैं।' यह सब देशों और सब जातियों के लिए सत्य है। और मैं यह कह सकता हूँ कि पश्चिमी लोग पूर्वीयों से शीघ्र इसका अनुभव करेंगे—वे पूर्वीय जन, जिन्होंने इस नींव के निर्माण में तथा कुछ थोड़े से अनुभूति-सम्पन्न व्यक्तियों को उत्पन्न करने में प्रायः अपनी सारी शक्ति व्यय कर दी है।

आओ, हम नाम, यश और दूसरों पर शासन करने की इच्छा से रहित होकर काम करें। काम, क्रोध एवं लोभ—इस त्रिविध बन्धन से हम मुक्त हो जायँ। और फिर सत्य हमारे साथ रहेगा!

भगवत्पदाश्रित
विवेकानन्द

○

श्रीरामकृष्णवचनामृत-प्रसंग

तेईसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ-मिशन, बेलुड़ मठ के अध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण मठ, काँकुड़-गाछी कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीराम-कृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी । उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्‌बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है । इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारा-वाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं । हिन्दी-रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

दयानन्द और केशव का अभिमत

पूर्व में केशव का उल्लेख करते हुए ठाकुर ने कहा था, "इसकी दुम झड़ गयी है", अर्थात् अविद्या दूर होकर ज्ञान लाभ हुआ है । इस बारे में वे दो और संसारी भक्तों—महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और कप्तान अर्थात् विश्वनाथ उपाध्याय के सम्बन्ध में कहते हैं । इसके पूर्व मास्टर महाशय ने प्रारम्भ में ठाकुर के सम्बन्ध में दयानन्द सरस्वती और केशवचन्द्र सेन के मतव्य की चर्चा की है । माँ (सारदादेवी) ने बताया है कि ठाकुर पण्डित नहीं थे, फिर भी पद्‌मलोचन, नारायणशास्त्री, गौरी पण्डित और दयानन्द सरस्वती जैसे शास्त्रविद् पण्डितगण उन केपास बैठ, उनकी बातें सुन आश्चर्यचकित हुए थे । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ठाकुर को देखकर कहा था, "पण्डित लोग शास्त्र का मन्थन कर केवल छाँछ पीते हैं, पर ऐसे महा-

पुरुष तो मक्खन खाते हैं ।" दयानन्द वेदपन्थी थे, वेद-वेदान्त के सुपण्डित थे, लेकिन वेद की प्रचलित व्याख्या के विरोधी थे । वे ठाकुर की अवस्था देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए थे और कहा था, "हमने शास्त्र में जो पढ़ा है, देखता हूँ, ये तो उन सबकी अनुभूति किये बैठे हैं ।" केशव सेन एक ही आधार में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों दर्शनों के पण्डित थे, फिर बाइबिल के प्रति उनका तीव्र अनुराग था। ईसा मसीह के चरित्र से वे विशेष रूप से प्रभावित थे । उन्होंने कहा था, "इनकी (ठाकुर की) बातें ईसा मसीह की बातों के समान हैं—उन्हीं के समान सरल शब्दों में ये सबको आध्यात्मिक तत्त्व वितरित करते हैं ।" ईसा जैसे ईश्वरीय भाव में तन्मय रहते, सर्व-त्यागी ठाकुर भी उसी प्रकार रहते । ईसा का जिस प्रकार ईश्वर पर अगाध विश्वास था, ठाकुर का भी उसी प्रकार ईश्वर के प्रति ज्वलन्त विश्वास था । ईसा के सम्बन्ध में शास्त्रज्ञ यहूदी लोग कहते, "वे जिस ढंग से बोलते, वह मानो अधिकारी पुरुष के समान बोलते—उनकी वाणी अत्यन्त प्रभावी होती ।" ठाकुर की वाणी के सम्बन्ध में भी केशव सेन ने ऐसे ही जोर की बात कही है—"इस निरक्षर व्यक्ति में यह उदार भाव कैसे आया ?" किसी के साथ झगड़ा नहीं, किसी के प्रति कोई विद्वेष नहीं, सभी धर्मावलम्बियों के प्रति उनका समान आदर भाव था ।

उस युग के विशिष्ट धर्मनेता तथा ज्ञानी, गुणी, पण्डित लोग ठाकुर के पास आते थे तथा ठाकुर भी उनके पास जाते थे । लगता है इसमें कोई गूढ़ रहस्य है । वे मानो जगन्माता के हाथ का यंत्रस्वरूप होकर इन सबके साथ

मिले थे—एक ओर उनमें एक नया भाव प्रवाहित करने के लिए तो दूसरी ओर इस जगत् में विभिन्न प्रकार की जितनी भावनाएँ हो सकती हैं, उनसे परिचित होने के लिए।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सम्बन्ध में ठाकुर ने कहा था कि उनमें त्याग और भोग दोनों हैं। सम्भवतः उनके कहने का अभिप्राय यह था कि इतने बड़े सात्त्विक आधार होते हुए भी भोगों के बीच रहने के कारण महर्षि के लिए भगवान् की ओर अधिक अग्रसर होना सम्भव नहीं हुआ था। यद्यपि ठाकुर को देखते ही देवेन्द्रनाथ मुग्ध हो गये थे और उनका सम्मान किया था, फिर भी सामाजिक आचार-विचार के प्रति उनमें इतनी अधिक महत्त्व-बुद्धि थी कि कहीं उन्हें (ठाकुर को) देखकर समाज के लोग 'असभ्य' कहकर न हँसें इसलिए ठाकुर को 'समाज' में आने से मना किया था। तात्पर्य यह कि ठाकुर के प्रति श्रद्धा होते हुए भी वे उन्हें पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर सके थे। इसका कारण यह था कि शास्त्रज्ञान और हिन्दू आदर्श के प्रति श्रद्धावान् होते हुए भी वे हिन्दू धर्म को परिष्कृत कर एक ऐसे नये धर्म-सम्प्रदाय के प्रवर्तन की बात पसन्द करते थे, जो मार्जित रुचिवाले लोगों के लिए उपयोगी हो सके।

केशव का परिवर्तन

यद्यपि देवेन्द्रनाथ की भावना केशव में प्रतिफलित हुई थी, फिर भी यहाँ पर एक बात ऐतिहासिक दृष्टि से विशेषरूप से समझने योग्य है कि ठाकुर के संस्पर्श में आने के बाद केशव और केशव द्वारा परिचालित ब्राह्मधर्म के

भीतर एक विशेष परिवर्तन आया था। केशव की भक्ति, भावतन्मयता, विद्वत्ता, वाग्मिता ये बातें पाश्चात्य देश में उन्हें ख्याति दिलाने में सहायक हुई थीं; विदेशियों में मुख्यतः प्राध्यापक मैक्समूलर उनके प्रति विशेषरूप से मुग्ध हुए थे। लेकिन मैक्समूलर ने देखा कि जो केशव एक प्रबल धर्म-सुधारक के रूप में परिचित हुए थे, उनके जीवन से वह भाव धीरे-धीरे बदलता जा रहा है तथा वे हिन्दुओं के आदर्श में भक्तिरस का जो प्रभाव है, उसकी ओर खिचते जा रहे हैं। उनका हरिनाम-संकीर्तन के प्रति आकर्षण, 'माँ-माँ' कहकर उनका प्रार्थना करना, इस सबके पीछे मैक्समूलर ने श्रीरामकृष्ण के प्रभाव को ही मूल कारण के रूप में देखा, और इसीलिए श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में उन्हें जानने की उत्सुकता हुई। स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) से परिचय होने के बाद वह उत्सुकता और भी बढ़ गयी, क्योंकि उन्हें लगा कि स्वामीजी जिनके शिष्य हैं, वे जाने और कितने महान् न होंगे। लुप्तप्राय वेदों के पुनरुद्धार में मैक्समूलर हेतु थे, इसलिए स्वामीजी भी उनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। उनके इच्छानुसार स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण की जीवनी की सामग्री भारतवर्ष से संग्रहित कर उन्हें दी थी, जिसे आधार बनाकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण की जीवनी की रचना की। यह जीवनी विदेशों में ठाकुर की भावधारा के प्रचार में विशेष रूप से सहायक हुई। इस प्रकार ठाकुर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी भावधारा के विशेष-विशेष वाहकों और धारण करनेवालों के बीच अपने उदार भाव का संचार करते थे तथा अपनी उच्च आध्यात्मिक अवस्था के द्वारा उन्हें प्रभावित कर एक ऐसे आदर्श की ओर परिचालित करते थे, जो उन्हें

धीरे-धीरे उन्नत होने में सहायता कर सके।

ठाकुर की निरभिमानिता

केवल केशव ही नहीं बल्कि अन्य ब्राह्मभक्त भी धीरे-धीरे ठाकुर से प्रभावित हुए थे। विभिन्न सम्प्रदायों के साधक भी ठाकुर के पास आकर अपनी-अपनी संकीर्णता का त्याग करने में समर्थ हुए थे। जगन्माता ने अपने यंत्र के रूप में उनका इस प्रकार से व्यवहार किया, जिससे दूसरे लोग प्रभावित हों और संसार में सर्वत्र एक नयी भावधारा फैले। यहाँ पर अवश्य ही हम यह जानते हैं कि यंत्र और यंत्री भिन्न नहीं हैं। फिर भी उन्हें यंत्र इसलिए कह रहे हैं कि वे इस तथ्य के प्रति पूरी तरह उदासीन थे कि वे संसार में एक आमूल परिवर्तन ला दे रहे हैं। अपने विशाल व्यक्तित्व के सम्बन्ध में वे तनिक भी सचेत नहीं थे। उनका 'मैं' सम्पूर्ण रूप से मिट गया था और वहाँ केवल जगन्माता के ही कर्तृत्व का अनुभव विराजमान था। उनके भीतर अहंकार है या नहीं, इस प्रश्न के उत्तर में मास्टर महाशय ने जब यह कहा कि महाराज, आपके भीतर अहंकार प्रायः नहीं है, केवल लोक-शिक्षा के लिए आपने थोड़ा-सा अहंकार रख लिया है, तो तुरन्त वे सुधारते हुए बोले, "नहीं, मैंने नहीं, उन्होंने ही रखा है, जगन्माता ने ही अपना काम कराने के लिए थोड़ा-सा रख दिया है।" तभी तो 'लीलाप्रसंग' के लेखक (स्वामी सारदानन्द) कहते हैं, "ठाकुर का प्रत्येक कार्य संसार के कल्याण के लिए हुआ है। स्वयं उनके लिए उनके अपने जीवन का कोई प्रयोजन न था, वह तो संसार के प्रयोजन के लिए था। उनका छोटा-बड़ा हर कार्य जगत् के कल्याण के लिए अनुष्ठित हुआ था।"

विश्वनाथ उपाध्याय

देवेन्द्र के प्रसंग के बाद ठाकुर कप्तान की चर्चा करते हुए कहते हैं, "और एक है--कप्तान ।" ये कप्तान थे विश्वनाथ उपाध्याय, जो नेपाल के राज-प्रतिनिधि के रूप में कलकत्ते में रहते थे । वे भी एक विशेष श्रेणी के एक महान् चरित्रवाले व्यक्ति थे । पुरातनपन्थी गृहस्थ थे, लेकिन अत्यधिक भक्तिमान्, सदाचारी ब्राह्मण थे । ठाकुर की आचारनिष्ठा बहुत गहरी न होने पर भी उनके प्रति कप्तान की आन्तरिक भक्ति थी । इधर भले ही ठाकुर कप्तान को बहुत प्यार करते थे, पर ठाकुर की नजरों से उनके चरित्र की अपूर्णता छिपी नहीं थी । भक्तिमान् होते हुए भी कप्तान आचारनिष्ठा को इतना महत्त्व देते थे कि उन्हें यह समझ ही न थी कि भगवद्भक्ति आचारनिष्ठा से बहुत ऊँची बात है । इसीलिए उनके मत में केशव सेन भ्रष्टाचारी थे, क्योंकि वे अँगरेजों के साथ खाना खाते थे और दूसरी जाति के साथ उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह किया था । इन्हीं कारणों से उन्हें यह पसन्द नहीं था कि ठाकुर केशव सेन से इतनी घनिष्ठता रखें । एक दिन इस घनिष्ठता को लेकर जब उन्होंने ठाकुर से शिकायत की, तो ठाकुर उनके इस संकीर्ण भाव को दूर करने के लिए जरा ठेस देते हुए ही बोले, "मैं तो पैसे के लिए नहीं जाता, हरिनाम सुनने जाता हूँ, और तुम लाटसाहब के घर भला किसलिए जाते हो? वे लोग तो म्लेच्छ हैं, फिर उनके साथ कैसे रहते हो?" इससे कप्तान में कोई परिवर्तन हुआ या नहीं, यह तो हम नहीं जानते, पर उस समय वे निरुत्तर हो गये थे ।

श्रीरामकृष्ण का प्रभाव और विलक्षणता

यह जो विभिन्न व्यक्तियों की चर्चा हुई, हम उनमें से प्रत्येक के प्रसंग में देखते हैं कि ठाकुर उनके सद्‌गुणों की प्रशंसा करते, और जहाँ उनकी अपूर्णता होती, उस पर भी वे ध्यान देते तथा सम्भव हुआ तो उसे दूर करने का प्रयास भी करते। दयानन्द को देखते ही ठाकुर अपनी सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा समझ गये थे कि उनके भीतर एक शक्ति का प्रकाश हुआ है और वे एक नये दल या सम्प्रदाय का गठन करना चाहते हैं। ठाकुर स्वयं दयानन्द से भेंट करने गये थे तथा उनके पाण्डित्य, वाग्मिता आदि की प्रशंसा की थी। लेकिन उनकी कट्टरता तथा एक नये दल के गठन की चेष्टा उन्हें अच्छी नहीं लगी थी। ठाकुर की दृष्टि में इस प्रकार कोई दल बनाना अपूर्णता का परिचायक था। मन जब सबको ग्रहण नहीं कर पाता, सबके भीतर जो सद्‌भाव है, उस सबका समादर नहीं कर पाता, तभी वह दल-गठन करता है। महर्षि देवेन्द्रनाथ के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—इतने पण्डित हैं, ज्ञानी और भक्त हैं, फिर भी संसारी हैं, अर्थात् संसार के प्रति आसक्ति बनी हुई है। और केशव सेन को तो हाथ पकड़कर धीरे-धीरे आगे ले गये थे। ठाकुर ने उनसे कहा, "बोलो भागवत-भक्त-भगवान्।" केशव ने वही दुहराया। लेकिन ठाकुर ने जब उनसे कहा, "बोलो गुरु-कृष्ण-वैष्णव," तब केशव हाथ जोड़कर बोले, "महाराज, इतनी दूर नहीं, ऐसा होने से फिर दल-वल नहीं रह जाएगा।" अभिप्राय यह कि तब भी केशव में दल को बनाये रखने की इच्छा बनी हुई थी। ठाकुर सुनकर हँसते हैं। हँसते इसलिए हैं कि दवाई गले से नीचे उतर गयी है, रोग धीरे-धीरे ठीक होना शुरू हो

गया है । अब जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, इसलिए प्रतीक्षा करते हैं । वे केशव को और आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते हैं ।

समाज-सुधार के सम्बन्ध में ठाकुर उपाध्याय से कहते हैं, "यह सब तो बहुत कर लिया, अब यह सब छोड़कर भगवान् में मन लगाओ । और क्या होगा, लोग ज्यादा से ज्यादा यही कहेंगे न कि पागल हो गया,—तो हो जाओ न पागल ।" इस प्रकार जो रास्ते से हट जा रहे थे, उन्हें ठाकुर कल्याण के पथ पर लौटा लाने की, उनकी दृष्टि को बदल देने की चेष्टा करते हैं । अपने लोकोत्तर जीवन को उनके सामने आदर्श के रूप में रखकर, अपना अपार स्नेह देकर और अपनी असीम उदारता से उन्हें मुग्ध कर अपने-अपने पथ पर आगे बढ़ने में उनकी सहायता करते हैं । वह सही रास्ता कौनसा है ? वह है ईश्वर को प्यार करने का रास्ता, उन्हें पाने का रास्ता । कौन किस धर्म का पथिक है, इससे उनका कोई सम्बन्ध न था, वे तो केवल यह चाहते थे कि सब लोग ईश्वर की ओर बढ़ चलें । इसलिए उन्होंने सभी धर्मों के प्रति आदर व्यक्त करते हुए कहा था कि तुम लोग भिन्न-भिन्न पथ के पथिक होते हुए भी उस एक ही गन्तव्य स्थल पर पहुँचोगे । अतः लक्ष्य को ठीक रखकर निष्ठापूर्वक अपने अपने रास्ते पर बढ़ चलो ।

इस तत्त्व को ठाकुर ने ही सर्वप्रथम प्रकाशित किया हो ऐसी बात नहीं है, यह तो अत्यन्त प्राचीन है । वेद में कहा गया है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही सत्य वस्तु का ऋषिगण अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं । ईसा मसीह ने भी कहा है कि गन्तव्य एक ही है, पर प्रवेश-द्वार अनेक हैं । लेकिन फिर भी ठाकुर के कहने का एक

विशेष महत्त्व है । वे अपनी उपलब्धि की बात कहते हैं । इसके पूर्व या आज तक ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसने स्वयं विभिन्न मार्गों से अग्रसर होकर उस परमतत्त्व की अनुभूति की हो । प्रायः सभी प्रचलित धर्मों की साधना करके स्वयं अपने जीवन में सत्य का अनुभव करने का उनका यह दृष्टान्त विश्व में अद्वितीय है । इसीलिए जैसे चुम्बक के पास आकर सुई स्वयं खिच जाती है, वैसे ही ये सब महान् व्यक्तित्वशाली व्यक्ति भी ठाकुर के सान्निध्य में आकर एवंविध प्रभावित हुए थे । उस समय जो प्रभाव कुछ विशेष व्यक्तियों पर पड़ा था, वह अब क्रमशः दूर-दूर में फैलकर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । इस समय देश-विदेश में चारों ओर ठाकुर की भावधारा फैल रही है । इस भावधारा में संकीर्णता नहीं है, इसीलिए इसमें इतना आकर्षण है । ये विशिष्टताएँ चिन्तन के योग्य हैं । वर्तमान में जो लोग वास्तविक ही धार्मिक हैं, वे ठाकुर के इस उदार आदर्श में अपने आदर्श को प्रतिफलित देखते हैं । उन्होंने जो यह कहा था कि "जिसने भी आन्तरिकता के साथ भगवान् को पुकारा है, उसे यहाँ आना ही पड़ेगा"—वह बात आज सत्य हो रही है । इसलिए देखता हूँ, जो आन्तरिक भाव से ईश्वर को ढूंढ रहा है, वह चाहे जिस धर्म का माननेवाला, जिस पथ का पथिक हो, वह इस उदार मत की ओर खिंचे बिना रह नहीं सकेगा, इस दुर्निवार प्रभाव से बच नहीं सकेगा ।

○

श्री चैतन्य महाप्रभु (५)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक, स्वामी विदेहात्मानन्द, रामकृष्ण मठ, नागपुर के अन्तेवासी हैं।—सं०)

तृतीय अध्याय

(उत्तरार्ध)

निमाई भले ही अत्यन्त गोपनीयतापूर्वक भक्तों के संग अपने भाव में विभोर रहते थे, फिर भी उनके द्वारा प्रचारित धर्म शनैः शनैः समाज को प्रभावित करने लगा। वे जिस प्रकार सर्वदा सच्चर्चा और शास्त्रादि की व्याख्या में लगे रहते, भागवत-तत्त्व, भक्तिमार्ग और साधन-भजन का उपदेश देते रहते तथा, सर्वोपरि, उनके दैनन्दिन जीवन के क्रियाकलापों से जो अभिनव भाव अभिव्यक्त होता, उसने अनेकानेक लोगों की जीवनधारा में परिवर्तन ला दिया। फिर उन सब भक्तों के प्रभाव में आकर नित्य नये नये लोग भी उनका आश्रय लेने लगे। इस प्रकार दिन पर दिन उनका प्रभाव बढ़ता देख ईर्ष्यापरायण धर्मद्वेषी लोगों का एक दल उनके विरोध में उठ खड़ा हुआ। वे लोग निमाई तथा उनके भक्तों की, विशेषकर उनके धर्ममत एवं भजनप्रणाली की, निन्दा करते हुए चारों तरफ तरह तरह का दुष्प्रचार करने लगे। अपने भाव के विरोधी अधार्मिक, असज्जनों के सम्पर्क से भावभक्ति को बड़ी क्षति पहुँचती देख निमाई और भक्तगण उन लोगों से सर्वदा दूर ही दूर रहते। विशेषकर भजन के समय तो

वे ऐसे लोगों को किसी भी प्रकार समीप नहीं आने देते थे। इससे निन्दकों को उनकी निन्दा करने का और भी अच्छा मौका हाथ लग जाता था। वे लोग कहने लगे कि निमाई रात को श्रीवास आचार्य के घर में भक्तों के साथ मिलकर तरह तरह के दुष्कर्मों का अनुष्ठान करता है। इन विरोधियों में कुछ तो समाज का नेतृत्व करनेवाले ब्राह्मण पण्डित भी थे। वे लोग शास्त्रों की दुहाई देते हुए प्रचार करने लगे —"निमाई पण्डित ने वेदसम्मत धर्माचरण त्याग दिया है और कुछ पाखण्डियों के साथ मिलकर समाज को अधःपतन की ओर ले जा रहा है।"

गोपाल नाम का एक ब्राह्मण अपने स्वभाव-दोष के कारण 'बकवादी गोपाल' के नाम से जाना जाता था। निमाई तथा उनकी भक्तमण्डली के बारे में दुष्प्रचार करने के लिए एक रात उसने श्रीवास के घर के दरवाजे पर शराब की हण्डी और केले के पत्ते पर लाल जवा का फूल, अक्षत, दुर्वा आदि ऐसे ढंग से सजाकर रख दिया कि जिसे सुबह देख लोगों को ऐसा विश्वास हो जाय कि रात में श्रीवास के घर पर तान्त्रिक कापालिकों के समान कुक्रिया का अनुष्ठान हुआ करता है। भोर के समय दरवाजा खोलते ही श्रीवास ने सब कुछ देखा और निन्दकों का कार्य समझ अत्यन्त दुःखी मन से भगवान् का नाम-स्मरण करने लगे।

श्रीवासाचार्य की सास संसार में आसक्त एवं भगवद्-विमुख थी। निमाई पण्डित का संग करके मेरा जमाई विपथ पर जा रहा है यह सोच उसे बड़ा खेद था। निमाई जब रात में श्रीवास के घर भक्तों से मिलते, तब इस विपरीत भाववाली बहिर्मुखी वृद्धा को वहाँ रहने नहीं दिया

जाता था। पर वृद्धा के मन में यह जानने का बड़ा कुतूहल होता कि आखिर रात को वे लोग मिलकर क्या करते हैं। इसलिए एक दिन वह अत्यन्त सावधानीपूर्वक अपना शरीर ढककर वहाँ छिप गयी। रात में भजन के समय अन्य दिनों के समान उस दिन हृदय में भाव एवं उल्लास का उद्रेक न होने पर निमाई तथा भक्तगण अत्यन्त दुःखी हुए। इसके कारण पर विचार करते हुए निमाई ने कहा, "यहाँ पर कोई अभक्त बाहरी व्यक्ति तो नहीं है थोड़ा ढूँढ़कर देखो तो ?" उनके कथनानुसार जब खोज की गयी, तो श्रीवास की सास को छिपा पाया गया। फलतः उसे कमरे से बाहर कर दिया गया। उसके पश्चात् सबका चित्त भजन में एकदम एकाग्र हो गया और वे लोग आनन्द में डूब गये। निन्दकों की इन सारी कुचेष्टाओं के बावजूद निमाई भक्तों को साथ ले यथावत् साधन-भजन में रत रहे। परन्तु भला प्रज्वलित अग्नि को क्या कोई ढककर रख सकता है ? भगवदिच्छा से जो भाव-तरग उत्थित हुई थी, वह श्रीवास के आँगन में आबद्ध न रह सकी। निमाई अब और अपने भक्तों के बीच ही छिपे न रह सके। वे लोगों के साथ जितना मिलते-जुलते, उतना ही उन्हें उनके त्रिविध ताप का पता चलता। जगत् के दुःख-कष्ट का परिचय पा उनके कोमल प्राण पिघल उठे। वे उन सबकी व्यथा शान्त करने हेतु भगवत्-कथा सुनाने को आकुल हो उठे। फलस्वरूप अब खुले आम सबके साथ मिलकर भजन-कीर्तन होने लगा। अब निमाई प्रतिदिन सन्ध्या भक्तों को संग ले नवद्वीप के रास्तों तथा गंगा के घाट पर उच्चस्वर में हरिनाम-संकीर्तन करने लगे।

पूर्व बंगाल का भ्रमण तथा गया की यात्रा करते

समय निमाई को धर्म की दुरवस्था प्रत्यक्ष देखने को मिली थी। नवद्वीप में भी समाज के अति उच्च स्थान पर बैठकर उन्हें काफी कुछ अनुभव प्राप्त हुआ था। अब पुनः जन-साधारण से मेलजेल के द्वारा उन्होंने देश की दुःख-दुर्दशा की बात विशेष रूप से हृदयंगम की। एक ओर उन्होंने ब्राह्मण आदि उच्च वर्गों को जाति-अभिमान, पाण्डित्य-गर्व एवं भगवद्विमुख वाग्वितण्डा में वृथा जीवन बिताते हुए देखा तो दूसरी ओर शूद्र तथा अन्त्यज लोगों की अतिशय दुरवस्था, धर्मशास्त्र में अनभिज्ञता, अस्पृश्यता, ईश्वरोपासना में उनका अनधिकार, पूजा-उत्सव आदि के अवसर पर भी एकत्र मिलित हो पाने में उनकी अयोग्यता देखी। सवर्ण के इस अत्याचार के कारण निम्न जाति के लोगों में विदेशी धर्म के प्रति आग्रह देखकर उनका हृदय क्रन्दन कर उठा। उन्होंने पाया कि इस सामाजिक-व्याधि तथा धर्मविप्लव को दूर करने के लिए मुक्तरूप से हरिनाम का वितरण ही एक महौषध है। उनका सुमधुर कीर्तन, स्नेह-भरा व्यवहार, निष्कलंक चरित्र और सर्वोपरि, प्राणों को मुग्ध कर लेनेवाले उनके सरल सहज भगवत्तत्त्वपूर्ण मधुर उपदेश सबका चित्त आकृष्ट कर लेते।

उनके हरिनाम-प्रचार के फलस्वरूप जनसाधारण में क्रमशः प्रीति, स्नेह एवं एकता की वृद्धि होने लगी और ईर्ष्या-द्वेष से उपजनेवाले भेद-वैषम्य आदि का ह्रास होने लगा। निमाई सभी श्रेणी के लोगों के साथ समान भाव से मिलते, भक्तों के साथ प्रत्येक मुहल्ले में जाकर लोगों के द्वार द्वार पर प्रचार करते; हाथ जोड़कर कहते, "भाई, इस दुर्लभ मनुष्य-जीवन को वृथा ही क्यों गँवा रहे हो, क्यों त्रिताप की ज्वाला में दग्ध हो रहे हो? हरि

को पुकारो, हरिनाम का कीर्तन करो, इससे हृदय में आनन्द का संचार होगा । भगवद्-भजन को छोड़ शान्ति पाने का दूसरा कोई उपाय नहीं ।" उनके प्रचार में ऊँच-नीच का भेद न था, धनी-दरिद्र, पण्डित-मूर्ख का विचार न था । निमाई जिस किसी को देखते, उसे समझा-बुझाकर भगवत्-पथ में लाने का, उससे हरिनाम करवाने का प्रयास करते । भगवद्भाव में विभोर उनकी कमनीय मूर्ति, सुमधुर वाणी और उनके स्नेहमय व्यवहार से सबके प्राण-मन विमुग्ध हो जाते और वे सभी उनके प्रति समर्पित हो जाते ।

निमाई की इच्छानुसार नित्यानन्द और हरिदास पूरे नवद्वीप में और विशेषकर गली-कूचों में घूमते हुए पतित, निर्धन, दीन-दुःखी और निम्नश्रेणी के लोगों के बीच धर्मप्रचार करने लगे,; फलतः उन लोगों में एक नवीन चेतना का संचार हुआ और वे जाग उठे । निमाई का प्रभाव और देश में धर्मभाव की वृद्धि, एवं विशेषकर आम लोगों का अभ्युदय, देखकर समाज के पुरातनपन्थी कट्टर लोगों का दल विषम चिन्ता में पड़ा । वे तथा धर्मविद्वेषी दुष्ट प्रकृति के लोग निमाई को परम शत्रु मानकर उनकी निन्दा और अनिष्ट करने का प्रयास करने लगे । उन्हीं दिनों नवद्वीप में जगन्नाथ और माधव नाम के दो भाई नगररक्षा के काम में नियुक्त थे । ब्राह्मण के वंशज होकर भी वे सदाचार-स्वधर्म भूलकर दुष्टता और शराबखोरी में दिन काट रहे थे । लोग उन्हें 'जगाई-मधाई' के नाम से जानते थे । निमाई का धर्मप्रचार तथा हरिनाम-संकीर्तन उन्हें बिल्कुल नहीं भाता था । क्रमशः कीर्तन की ज्वाला से वे बेचैन हो उठे । जब कुछ दिनों बाद उन लोगों ने देखा कि उनके

दुष्ट मित्रों में से भी अनेक निमाई के दल में मिलकर संकीर्तन में भाग लेते हैं, हरिनाम लेते हुए लोट-पोट हो जाते हैं, हम लोगों के साथ मिलते-जुलते नहीं, शराब नहीं पीते, गुण्डागिर्दी नहीं करते, तो उनके रोष का ठिकाना न रहा और वे इसका प्रतिशोध लेने का मौका देखने लगे।

इधर निताई ने हरिदास की सहायता से हरिनाम-वितरण के कार्य में स्वयं को समर्पित कर दिया। जिसे भी पाते, उसी को प्रेमालिंगन में बाँधकर हरिनाम लेने की प्रार्थना करते। भावविभोर निताई एक दिन प्रचार करने को बाहर निकले। प्रेमभाव में उन्मत्त हो हरिनाम-कीर्तन करते हुए वे नवद्वीप के रास्ते पर चले जा रहे थे कि उसी समय उनकी जगाई-मधाई दोनों भाइयों के साथ भेंट हो गयी। नशे में लड़खड़ाते, अश्लील गालियाँ बकते दोनों भाई उनकी ओर चले आ रहे थे। भावविभोर निमाई भी नृत्य करते हुए उनकी ओर अग्रसर हुए, मुख से मधुर हरिनाम निःसृत हो रहा था। निताई को देखते ही वे दोनों आपे से बाहर हो गये। मधाई के हाथ में मद्य की कलसी थी, उसने वही फेंककर निताई पर प्रहार किया। मिट्टी की कलशी सिर से टकराकर चकनाचूर हो गयी और उसकी चोट से सिर से रक्त झरने लगा। यह घटना देख चारों ओर के लोग हाय-हाय करने लगे। परन्तु निताई का उधर तनिक भी ध्यान न था, वे नाचते हुए आगे बढ़े और मधाई को प्रेमालिंगन में बाँधकर गाने लगे—

"हरि बोलो आओ नाचें गाएँ जगाई मधाई।
मारा है तो क्या, हरि बोलो नाचो भाई॥"

आज निताई के प्रेम का स्पर्श पाकर उन दोनों का पाषाण-सम हृदय पिघल उठा। विवेक का उदय हो जाने से दोनों

भाई नित्यानन्द के चरणों में पड़कर बारम्बार क्षमा माँगने लगे ।

इधर निताई के सिर पर कलसी से प्रहार की बात सुनकर निमाई भक्तों के साथ दौड़े आये । आज उनकी वह रुद्र-मूर्ति देख लोग भयभीत हो उठे और भक्तों के विस्मय की सीमा न रही । तब आकुल होकर जगाई एवं मधाई निमाई के चरणों में लोटने लगे और अतिशय दुःख व्यक्त करते हुए कृपा की भीख माँगने लगे । चारों ओर बहुत से लोग एकत्र हो गये और वे सभी चित्रलिखे-से अवाक् निस्पन्द खड़े रहे । पर निमाई का चित्त द्रवित नहीं हुआ, उन्होंने इन दुष्टों को क्षमा प्रदान नहीं किया । परन्तु दयालु निताई से अब नहीं रहा गया । वे उन दोनों भाइयों का अपराध क्षमा कर देने के लिए तथा उन पर कृपा करने के लिए निमाई से हठ करने लगे । करुणहृदय नित्यानन्द का अद्भुत प्रेम देखकर वहाँ पर उपस्थित सभी का चित्त विगलित हो उठा । निमाई के अन्तर में अतीव दुःखबोध होने पर भी वे निताई का अलौकिक चरित्र, त्याग-तितिक्षा एवं क्षमा देखकर चमत्कृत रह गये । 'जो मार खाकर भी मारनेवाले के लिए प्रेम की याचना करता हो ऐसा दयालु दूसरा कहाँ है ?'—ऐसा सोचकर वे विस्मित रह गये । निताई का प्रेम देख उनका हृदय पुलकित हो उठा और चित्त शान्त हो गया । उन्हें आलिंगन में जकड़कर उनके प्रेमभाव की बारम्बार प्रशंसा करते हुए निमाई बोले, "तुम्हारी कृपा से ही इन लोगों का उद्धार सम्भव हुआ ।" उन्होंने न केवल जगाई-मधाई का अपराध क्षमा कर दिया, वरन् उन पर विशेष कृपा भी की । इससे उस दिन से उन दोनों भाइयों के जीवन में परिवर्तन आ गया और वे

लोग हरिनाम लेते हुए अत्यन्त सद्भावपूर्ण जीवन बिताने लगे ।

जगन्नाथ और माधव नवद्वीप के विशेष प्रभावशाली व्यक्ति थे, फलतः उनके इस दृष्टान्त से वहाँ के बहुत से लोगों का जीवन बदल गया । नवद्वीप के अनेक पापी-तापी अपनी पुरानी बुरी आदतें छोड़कर साधुभाव से रहने लगे । जगाई-मधाई के उत्पात से नवद्वीप के लोग परेशान थे, परन्तु अब उनकी परोपकार की वृत्ति तथा धर्मभाव देखकर सबके हृदय में श्रद्धा का उदय होता । निमाई की इच्छानुसार जगाई-मधाई प्रतिदिन प्रातःकाल सबसे पहले गंगातट पर जाकर घाट को धो-पोंछकर स्वच्छ कर देते, जिससे लोग आनन्दपूर्वक स्नान-आह्निक आदि कर सकें । नवद्वीप में अब भी मधाई का घाट देखने को मिलता है ।

दिन पर दिन भक्तों की संख्या में वृद्धि होती जा रही थी और निमाई की भगवच्चर्चा, भजन, हरिनाम-कीर्तन तथा धर्मप्रचार जोरों से चल रहा था । अद्वैत, नित्यानन्द, श्रीधर, श्रीवास, हरिदास, मुरारी, मुकुन्द, दामोदर, जगदानन्द आदि विशिष्ट भक्तों के आनन्द का तो कुछ पूछना ही न था । वे लोग सर्वदा निमाई के साथ रहकर उनके प्रचार-कार्य में सभी प्रकार से सहायता करते । सबके उत्साह से कीर्तन के लिए विशेष उपयोगी एक नये प्रकार का मृदंग (खोल) बनाया गया, बड़े बड़े करताल भी तैयार किये गये । प्रतिदिन सन्ध्या को घी के सैकड़ों मशाल जलाकर, अच्छे अच्छे गायकों-वादकों के साथ खोल-करताल-सिंगा आदि बजाते हुए, बहुत से भक्तों से घिरकर नृत्य-गीत करते हुए निमाई नवद्वीप के राजपथ

का परिभ्रमण करते । इस प्रकार उन्होंने दैनन्दिन नगर-संकीर्तन प्रारम्भ किया। उस महासंकीर्तन की ध्वनि गगन को भेद देती, नृत्य से धरती काँप उठती और भावविभोर हो सैकड़ों लोग धूल में लोटने लगते । ऊँच-नीच का भेद-भाव भूलकर भक्तगण प्रेम में पुलकित हो एक दूसरे का आलिंगन करते, एक दूसरे की चरणरज धारण कर स्वयं को कृतार्थ मानते। वह दृश्य देख ऐसा प्रतीत होता मानो पृथ्वी पर स्वर्गराज्य का अवतरण हुआ है, मानव-मानव के बीच का भेद-विवाद मिट गया है। कीर्तन के समय निमाई के शरीर में इतने अलौकिक भावों का स्फुरण होता जिसकी कोई सीमा न थी। भावावेग के समय उनकी दिव्य अंगकान्ति देख लोग मुग्ध होकर सोचते कि ऐसी अद्भुत ज्योति का मनुष्य में अभिव्यक्त होना तो सम्भव नहीं है, अवश्य ही जीव के उद्धारार्थ साक्षात् भगवान् की करुणा ही इस देवोपम नरदेह में मूर्तिमान् हुई है। लोग यह देख अचरज से गड़े रह जाते कि कैसे "बाँहें उठाकर, हरि बोलते हुए वे प्रेमदृष्टि से देखते हैं और लोगों का कल्मष दूर कर उन्हें अपने प्रेम में डुबो देते हैं।"

कीर्तन-काल में बहुत से भक्तिमान् लोग प्रेम में पुलकित होकर 'हरिबोल' 'हरिबोल' कहते हुए कीर्तन करनेवालों के बीच केले, बताशे, फल, मिठाइयाँ लुटा देते। भक्तों के साथ निमाई उन चीजों को महाप्रसाद मानकर बीनते, छीना-झपटी करते, जिसे जो भी मिलता लूट लेता और आनन्दपूर्वक खाता और खिलाता। इस प्रकार 'हरिलूट' का आरम्भ हुआ। हरिलूट में कोई सामाजिक विधि नहीं है, ऊँच-नीच का विचार नहीं है, छोटे-बड़े का भेद नहीं है, सभी समान हैं और सबको समान अधिकार है—प्रेम

में धक्कामुक्की करते हुए जिससे जितना हो सके लूट ले। निमाई ने प्रचारित किया, "नदिया में प्रेम की लूट मची हुई है, भाइयो ! जिसे भी लेना है दौड़कर आ जाओ।"

मुस्लिम शासन प्रतिष्ठित हो जाने के बाद से बंगाल में दिन पर दिन मुसलमानों की संख्या में वृद्धि होने के बावजूद नवद्वीप में उनकी संख्या हिन्दुओं की तुलना में नगण्य थी। परन्तु शासक की जाति के होने के कारण उनका प्रभाव एवं ऐश्वर्य खूब था। मुसलमान नवाब द्वारा नियुक्त काजी तब वहाँ का प्रधान न्यायाधीश था तथा मृत्युदण्ड तक का निर्णायक था। सभी उसके भय से त्रस्त रहा करते थे। निमाई के आविर्भावकाल में नवद्वीप में हिन्दू-मुसलमान परस्पर बड़ी प्रीतिपूर्वक एक साथ निवास करते दीख पड़ते थे। धर्म के नाम पर साम्प्रदायिक कलह का नाम तक न था, बल्कि वे एक-दूसरे के धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते रहते थे। मुसलमानों में से बहुत से हिन्दुओं के ही वंशज थे और तब तक सबको अपने कुल तथा सगे-सम्बन्धियों का नाम तथा परिचय भी स्मरण था। अतः पूर्व सम्पर्क के अनुसार ही एक दूसरे के बीच आत्मीयता का सम्बन्ध, 'नाना' 'चाचा' 'मामू' आदि का सम्बोधन और स्नेह-प्रेम का आदान-प्रदान चलता रहता था। सुख-दुःख तथा आपत्ति-विपत्ति में सभी एक दूसरे के संगी हुआ करते थे। यहाँ तक कि श्राद्ध, विवाह, उत्सव और पर्व आदि के अवसरों पर भी यथासम्भव भाग लेकर वे एक-दूसरे की सहायता तथा आनन्दवर्धन किया करते थे। इस प्रकार उस सम्पूर्ण अचल में अपने अपने धर्म के प्रति निष्ठा बनाये रखकर भी हिन्दू-मुसलमानों के बीच अच्छी प्रीति एवं सद्भावना

विद्यमान थी ।

परन्तु निमाई के दल में वृद्धि, उनका प्रभाव तथा लोकप्रियता देख दुष्ट शत्रुओं का दल ईर्ष्या से दग्ध हो उठा और दूसरा कोई उपाय न देख एक साथ जाकर काजी से शिकायत की––"निमाई पण्डित के अत्याचार से हम लोगों का नवद्वीप में रह पाना मुश्किल हो गया है ।" कुछ मुसलमानों को भी उन लोगों ने अपने दल में मिला लिया, उन मुसलमानों ने भी जाकर काजी साहब को बताया, "निमाई पण्डित की वजह से नवद्वीप में रहना बड़ा कष्टकारक हो उठा है, उसके कीर्तन के शोरगुल से रात में नींद नहीं आती, नमाज भी नहीं पढ़ा जा सकता ।" सब कुछ सुनकर काजी बड़ा क्रुद्ध हुआ । नवद्वीप के समीप ही उसका निवासस्थान था । एक दिन उसने नवद्वीप जाकर पता लगाया और सारा व्यापार प्रत्यक्ष देख आदेश दिया, "आज से कोई भी उच्चस्वर में कीर्तन नहीं कर सकेगा ।"*

काजी का आदेश सुनकर भक्तों के बीच आतंक छा गया । शत्रुगण हर्षित होकर सोचने लगे कि इतने दिनों के बाद निमाई को अच्छा सबक सिखा दिया । सामान्य जन सोचने लगे, "न जाने इस बार नवद्वीप में क्या घटने-वाला है ।" पर निमाई बिन्दुमात्र भी डरे नहीं, अपितु

---

* मूल बँगला पद्यांश का अनुवाद :––

इतने दिनों के बाद अब तुम्हारी हिन्दुआनी प्रकट हो रही है ? यह सब तुम किसके बल पर कर रहे हो, मुझे सब पता है । आज तो मैं क्षमा करके घर को लौट जाता हूँ, पर आज से इस नगर में कोई भी कीर्तन न करे । अब से यदि कोई कीर्तन करते हुए मिला तो दण्ड-स्वरूप उसका सर्वस्व तथा जाति भी ले ली जाएगी ।"

उत्फुल्ल हो हँसते हुए कहने लगे, "आज नगर-कीर्तन का अच्छा प्रबन्ध करना होगा।" फिर भक्तों को उत्साहित करते हुए बोले, "आज सन्ध्या घर-घर जाकर दीपक जला लो, देखता हूँ कि कौन काजी आकर मुझे मना करता है।"

उस दिन अन्तरंग भक्तों को लेकर महासकीर्तन की विराट् व्यवस्था हुई। सन्ध्या होते ही घी के सैकड़ों मशाल जल उठे और एक साथ ही बहुत से खोल-करताल और सिंगा बजने लगे। असंख्य भक्तों से घिरकर निमाई कीर्तन करते हुए राजपथ पर अग्रसर होने लगे। कीर्तन अच्छी तरह जमे इसलिए भक्तों को तीन टोली में बाँट दिया गया। प्रथम दल के प्रधान गायक हुए हरिदास, द्वितीय दल के अद्वैताचार्य और सबके पीछे तृतीय दल के नित्यानन्द, साथ में स्वयं निमाई भी उस विराट् दल के साथ नगर-कीर्तन करते हुए चले। महासंकीर्तन की ध्वनि से दिशाएँ गूँज उठीं। प्रेमानन्द में उन्मत्त हो भक्तगण नाचते-गाते भाव में विभोर होकर चले जा रहे थे। उन्हें देखने को उत्सुक लोग दल के दल दौड़े चले आ रहे थे; वे लोग भी उस अपूर्व भाव में सुध-बुध खोकर कीर्तन में शामिल हो साथ साथ चलने लगे। क्रमशः वह एक विशाल जनसमुद्र में परिणत हो गया। निमाई अत्यन्त दक्षतापूर्वक उस विराट् कीर्तन-दल को परिचालित करते हुए धीरे धीरे काजी के घर की ओर अग्रसर हुए।

रात के अन्धकार में सैकड़ों मशालों का आलोक, खोल-करताल-सिंगा की ध्वनि के साथ कीर्तन का शोर और असंख्य जनता द्वारा मुहुर्मुहुः जयघोष—इन सबसे काजी का हृदय काँप उठा। क्रमशः वह ध्वनि निकटतर आती जाने से काजी को मन ही मन खतरे का आभास

हुआ और कीर्तन-दल के घर के निकट आ पहुँचने पर वह डर के मारे घर के भीतर जाकर छिप गया । काजी के घर के सम्मुख आकर निमाई ने कीर्तन बन्द कर दिया । तदुपरान्त उसके द्वार पर बैठ गये और एक सम्भ्रान्त जन को भीतर भेजकर काजी से मिलने की इच्छा व्यक्त की । सन्देशवाहकों के मुख से निमाई पण्डित के सद्-अभिप्राय की बात सुनकर काजी की जान में जान आयी । बाहर आकर सम्मान प्रदर्शित करते हुए उसने निमाई पण्डित का स्वागत किया; निमाई ने भी उसे यथोचित सम्मान प्रदान करने के वाद बाचतीत प्रारम्भ की ।

"प्रभु (निमाई) ने कहा कि मैं तुम्हारा अतिथि होकर आया हूँ और तुम मुझे देखकर छिप गये, यह तुम्हारा कैसा आचरण है ? काजी ने उत्तर दिया कि तुम क्रुद्ध होकर आये हो इसलिए तुम्हें शान्त करने के लिए मैं छिप गया था । अब तुम शान्त हो गये हो, अतः मैंने आकर मुलाकात की, तुम्हारे जैसा अतिथि पाकर मैं धन्य हो गया । देह के नाते की तुलना में ग्राम का नाता कहीं अधिक सच्चा होता है । ग्राम के नाते से नीलाम्बर चक्रवर्ती मेरे चाचा होते हैं, जो तुम्हारे नाना हैं । इस प्रकार रिश्ते में तुम मेरे भानजे लगते हो । भानजे का क्रोध मामा तो सहन करता ही है और भानजा भी मामा के अपराध को नजरअन्दाज कर देता है ।"*

काजी ने जब निमाई को भानजा कहकर उनसे अपना रिश्ता जोड़ा, तो निमाई ने भी 'मामा' कहकर उसे अपना बना लिया । मामा-भानजे दोनों मिलकर अत्यन्त प्रीति-पूर्वक आपस में धर्मविषयक चर्चा करने लगे । निमाई

* मूल बंगला पद्यांश का अनुवाद ।

ने काजी को समझाते हुए कहा, "भगवान् की भक्ति करना, उनका चिन्तन करना और नाम जपना सबका अवश्य करणीय कर्तव्य है। कीर्तन के द्वारा उनके नाम का जप होता है, चिन्तन होता है, भक्तिभाव में वृद्धि होती है और मानव को परमानन्द की प्राप्ति होती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य का त्रिताप शान्त हो जाता है।" निमाई के विनम्र व्यवहार, सुमधुर वाक्य तथा गहन तत्त्वज्ञान से काजी का हृदय द्रवित हो उठा। उस दिन से वह भी निमाई के परम अनुरागी के रूप में परिचित हुआ। कीर्तन में अब और कोई बाधा न रही। फिर निमाई तथा भक्तों के सन्तोष हेतु काजी के प्रयास से नवद्वीप में गोहत्या भी बन्द हो गयी। काजी के दृष्टान्त से और भी अनेक मुसलमान निमाई के प्रति आकृष्ट हुए और उनके चरित्र एवं धर्मभाव पर मुग्ध होकर उनके उपदेशानुसार जीवन बिताकर परम शान्ति के अधिकारी बने। अब भी नवद्वीप के समीप काजी की समाधि विद्यमान है। बहुत से लोग भक्तिपूर्वक वहाँ दर्शन और 'सलाम' किया करते हैं।

इस घटना से निमाई के प्रभाव में बड़ी वृद्धि हुई। उच्च-नीच, धनी-निर्धन, हिन्दू-मुसलमान, बौद्ध-कापालिक आदि सभी प्रकार के लोग बड़ी संख्या में धर्मलाभ करने तथा तत्त्वज्ञान सुनने उनके पास आने लगे। वे भी सबको अपना मानकर ग्रहण करते और अपने मधुर वाक्य से उनके दग्ध हृदय को शीतल कर देते। वे सबको भगवत्प्राप्ति का सहज-सरल पथ बताते हुए कहते—"भगवान् के शरणागत होकर सरल हृदय से भक्तिपूर्वक उन्हें पुकारो और उनके नाम का कीर्तन करो।" उनके उपदेश से बहुतों के जीवन में परिवर्तन आ गया।

हम पहले ही आम जनता के बीच धर्महीनता की बात कह आये हैं । सच पूछिए तो उन दिनों उनका कोई धर्म ही न था । बंगाल में मुसलमानों की संख्या में वृद्धि का यह भी एक प्रधान कारण था । बौद्धधर्म के अध:पतन के फलस्वरूप अनेकानेक लोग धर्म, शास्त्र एवं आचार से रहित हो अत्यन्त दुरवस्था को प्राप्त हो गये थे । उच्च वर्ण के हिन्दू इन्हें समाज में स्थान नहीं देते थे । इसके अतिरिक्त देश (बंगाल) के सीमावर्ती क्षेत्रों के बहुत से आदिवासी क्रमश: उन्नति करते हुए हिन्दू सभ्यता की ओर आकृष्ट हुए थे । पुरातनपन्थी हिन्दू लोग अपनी अलग पहचान बनाये रखने के लिए इन लोगों से मिलते-जुलते न थे और अस्पृश्य कहकर उन्हें दूर ही रखते थे । धर्म और उपासना किये बिना मनुष्य रह नहीं सकता; अत: उनमें से कुछ लोग विकृत बौद्धधर्म के, तो कुछ लोग तान्त्रिक कापालिकों के और कुछ लोग हिन्दू लोगों के धार्मिक तौर-तरीकों का अनुकरण करते हुए जीवनयापन करते थे, परन्तु सच्चे धर्मभाव के अभाव में उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी । निमाई के प्रेम का आह्वान पाकर ये लोग दल के दल आने लगे । वे सभी श्रेणी के लोगों को साथ लेकर हरिनाम-संकीर्तन करते, उन लोगों के साथ भगवत्प्रसंग तथा तत्त्वज्ञान पर चर्चा करते और सभी को सद्भाव एवं सदाचारपूर्वक जीवन बिताने का उपदेश देते । प्रेम के बल से निमाई ने सबका चित्त जीत लिया, उनके सम्पर्क में आकर इन लोगों की जीवनपद्धति एवं आचार-व्यवहार में परिवर्तन आ गया । निमाई की कृपा से ये लोग माला-तिलक-शिखा आदि आर्यचिह्न धारण करने लगे, नाम-महामन्त्र की दीक्षा ग्रहण करने लगे, एकादशी-जन्माष्टमी-शिवरात्रि-

रामनवमी आदि अवसरों पर व्रत करने लगे और विवाह-श्राद्ध आदि वैदिक क्रियाओं का यथासाध्य अनुष्ठान करते हुए, उपवीतहीन द्विजेतर शूद्र जाति के रूप में विराट् हिन्दू समाज में विलीन हो गये। फिर क्रमशः उन्नति करके इनमें से अनेक लोग अब उपवीतधारी द्विज के रूप में भी हिन्दू समाज के शीर्षस्थानीय हो गये हैं।

इस्लाम धर्म के साम्य और मैत्रीभाव ने लोगों का चित्त छू लिया था, उपासनाकाल में वे ऊँच-नीच का भेद भूलकर एक साथ खड़े होते थे। परन्तु निमाई के प्रेमभाव से लोगों का चित्त और भी अधिक आकृष्ट हुआ। उनके द्वारा प्रचारित धर्म, भगवद्भजन और हरिनाम-संकीर्तन में लोग न केवल ऊँच-नीच भूलकर एक साथ खड़े होते, अपितु अपने-पराये का भेद बिसारकर, एक साथ नृत्य-गीत और आलिंगन करके पद-मर्यादा भूलकर धूल में लोटने तथा एक-दूसरे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए परस्पर चरण-रज लेकर अपनी देह पर मलते। भगवान् की उपासना में, उनके नाम में, भक्ति-मुक्ति की प्राप्ति में निमाई द्वारा सबके समान अधिकार की घोषणा करने के फलस्वरूप इस्लाम के बाहरी साम्यभाव के प्रति लोगों का आकर्षण दूर हो गया। उन्होंने प्रचार किया—"भगवद्भक्त चाण्डाल भगवद्विमुख ब्राह्मण से कहीं श्रेष्ठ है।" वे उच्चस्वर में कहते, "मोची भी यदि भक्ति-पूर्वक कृष्ण का नाम लेकर पुकारे, तो उसके चरणों में मेरा कोटि कोटि नमस्कार है।" पूरे बंगाल में क्रमशः यही भाव प्रबल होने लगा। अपने सिंहविक्रम से समस्त बाधा-विघ्नों को रौंदते हुए ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न निमाई ने अपने भाव से सम्पूर्ण समाज को अनुप्राणित कर डाला।

○

मानस-रोग (१०/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने रायपुर के इस आश्रम में विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत मानस-रोग' प्रकरण पर सब मिलाकर ४६ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख उनके दसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्री राम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स०)

काम अप्सराओं को लेकर नारद के पास आता है, पर उनके मन पर अप्सराओं के मोहक हाव-भाव, नृत्य आदि का रंचमात्र प्रभाव नहीं पड़ता। वे शान्त भाव से बैठे रहते हैं। यह देख काम के मन में भय उत्पन्न होता है कि कहीं मुनि क्रोध करके मुझे भस्म न कर दें। नारद शान्त भाव से काम को दखते हैं। काम डर के मारे उनके चरणों में आ गिरता है और कहता है—महाराज मैंने जो कुछ किया है, वह इन्द्र के कहने से किया है। काम के कथन का अर्थ यही है कि यदि दण्ड देना हो तो इन्द्र को दीजिएगा, मुझे नहीं। यही व्यक्ति के जीवन की विडम्बना है। अभी तक तो काम इन्द्र का सहयोगी बना हुआ था, और अब जब अपने उद्यम में असफल हो गया, तब कहता है कि मैंने यह अपनी इच्छा से नहीं किया है ! फिर भी नारद को क्रोध नहीं आया और उन्होंने मुसकराकर काम से कहा—तुम इन्द्र से जाकर कह देना कि मेरे अन्तःकरण में स्वर्ग का कोई लोभ नहीं है, वह आनन्द से स्वर्ग के भोगों को भोगे, राज्य करे। काम नारद के चरणों में प्रणाम करके चला गया। लेकिन एक विचित्र बात हो गयी। अभी नारद के जीवन में सद्विचारों की, सत्कर्मों की, साधना की इतनी बढ़िया खेती हुई थी, पर अब उसकी

बगल में घास उग आयी और नारद उस घास को अनदेखा कर देते हैं, घास की पहचान नहीं कर पाते हैं। यही नारद की समस्या है। रोग तब होता है, जब रोगी कुपथ्य करता है। नारद ने सारी इन्द्रियों से तो कुपथ्य रोक दिया, पर एक इन्द्रिय से कुपथ्य हो गया। अप्सराओं का सौन्दर्य सामने आया, तो नेत्र से रंचमात्र कुपथ्य नहीं किया, उस पर दृष्टि तक न डाली। वहाँ पर जब अप्सराओं ने दिव्य सुगन्ध की सृष्टि की, तो नासिका के द्वारा भी उन्होंने कुपथ्य नहीं किया। जिह्वा के माध्यम से भी नारद किसी वस्तु का कुपथ्य करनेवाले थे नहीं। स्पर्श-सुख का त्यागकर त्वचा का भी उन्होंने कुपथ्य नहीं किया। पर एक कुपथ्य से वे बच नहीं पाये। वैसे उससे बच पाना है भी कठिन। वह कुपथ्य श्रवणेन्द्रिय का था। आँख, नाक और जिह्वा से कुपथ्य रोकना सरल है, पर कान का कुपथ्य ऐसा प्रिय लगता है कि बड़े बड़े त्यागी पुरुष भी इस कुपथ्य से बच नहीं पाते। यह कान का कुपथ्य क्या था ? जब काम जाने लगा तो जाते जाते एक बात नारद के कान में कहता गया और नारदजी ने बड़े प्रेम से उसे भीतर ले लिया। काम कहता गया—महाराज ! विश्व के इतिहास में आपसे बढ़कर कोई महापुरुष हुआ ही नहीं ! बस, त्योंही प्रशंसा का कुपथ्य नारद के कान में पैठ गया और उनके अन्तःकरण में घास अंकुरित हो गयी। चाहे उसे अहंकार की घास कह लीजिए, चाहे मोह की।

हम लोगों के यहाँ यह माना जाता है कि जो जैसा भोजन करता है, उसका मन वैसा बन जाता है, इसलिए भोजन को शुद्ध होना चाहिए। अब भोजन की शुद्धि के लिए अनेक पद्धतियों का वर्णन किया गया है, लेकिन

कितनी भी चेष्टा की जाय, व्यक्ति यह कैसे दावा कर सकता है कि वह जो कुछ खा रहा है, वह शुद्ध ही है? ऐसी स्थिति में हमारे यहाँ के भक्तों ने जिस मार्ग का अनुगमन किया, वह बड़ा कल्याणकारी है। भक्त को जब अन्न दिया जाता है, तब वह पहले भगवान् को भोग लगाता है और तत्पश्चात् दूसरों को प्रसाद बाँटकर स्वयं खाता है। तो, सामान्य भोजन को तो बहुत से लोग भोग लगाकर ग्रहण करते हैं, पर प्रशंसा के भोजन का भोग लगाना भूल जाते हैं। प्रशंसा का व्यंजन ऐसा होता है, जो व्यक्ति के जीवन में अहंकार की सृष्टि करता है। हम जब भी अपनी प्रशंसा सुनेंगे, अहंकार होने का भय बना ही रहेगा। ऐसा हो नहीं सकता कि कोई हमारी प्रशंसा करे ही न। किसी को प्रशंसा करने से रोका नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में उपाय क्या है?——यही कि उस प्रशंसा को भगवान् को समर्पित कर दिया जाय और उसे बाँट दिया जाय। जब भी कानों में प्रशंसा आवे, उसे तुरन्त भगवान् को निवेदित कर दें। नारद ने भी ऐसा किया, लेकिन बहुत देर बाद। नियम यह है कि पहले भोग लगा लें, तब भोजन करें। पर नारद-जी तो पहले भोजन कर लेते हैं और बाद में जब थोड़ी सी जूठन बच रहती है, तब भगवान् को भोग लगाते हैं। वे क्रम को उलट देते हैं। रामायण में जो जो चतुर पात्र हैं, उनको यदि प्रशंसा परोसी जाय, तो वे तुरन्त भगवान् को परोस देते हैं। भगवान् ने भरतजी के सामने प्रशंसा की लम्बी थाल परोस दी, बोले——

तीनि काल तिभुअन मत मोरें ।
पुन्यसिलोक तात तर तोरें ।।
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई ।
जाइ लोकु परलोकु नसाई ।। २/२६२/६-७
मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार ।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार ।।
२/२६३

कितना बड़ा था प्रशंसा का व्यंजन और परोसनेवाले थे साक्षात् भगवान् ! लेकिन भरतजी ने भगवान् को उसका भोग लगा दिया। भगवान् ने पूछा, "भरत, यह बताओ मैं जो कह रहा हूँ, वह ठीक है या नहीं ? मेरी दृष्टि पर तुम्हें विश्वास है या नहीं ?" भरतजी बोले, "प्रभु, मैं आपकी दृष्टि पर विश्वास कैसे न करूँ ? जब आप कह रहे हैं, तब अवश्य होगा।"

"अब तो अपनी निन्दा नहीं करोगे ? अपने को पापी नहीं कहोगे ?"

भरतजी ने कहा, "नहीं महाराज, मैं जानता हूँ, आपके सामने एक समस्या है।"

"वह क्या ?"

"यह कि दोष तो आप देख ही नहीं पाते । इसलिए मेरे दोष आपको दिखाई नहीं देते हैं तो वह ठीक ही है।"

भगवान् ने पूछा, "अच्छा, दोष देखना यदि मुझे नहीं आता तो गुण देखना तो आता है ?"

भरतजी बोले, "महाराज, गुण देखना आपको आता तो है, पर मैं आपसे पूछता हूँ यदि तोता बहुत बढ़िया श्लोक पढ़ने लगे और बन्दर बहुत बढ़िया नाचने लगे तो यह

बन्दर और तोते की विशेषता है अथवा पढ़ाने और नचानेवाले की ?"

भगवान् ने कहा, "पढ़ाने और नचानेवाले की ।"

"महाराज, बिलकुल ठीक कहा आपने । मैं तो तोते और बन्दर की तरह हूँ । यदि मुझमें कोई विशेषता दिखाई देती है तो पढ़ाने और नचानेवाले तो आप ही हैं । इसलिए यह प्रशंसा आपको ही अर्पित है ।"

भगवान् ने भरत से कहा, "भरत, तो प्रशंसा तुमने लौटा दी ?"

भरतजी बोले, "प्रभु, प्रशंसा का कुपथ्य सबमें अजीर्ण पैदा कर देता है, सबको डमरुआ रोग से ग्रस्त कर देता है । लेकिन आप इस प्रशंसा को पचाने में बड़े निपुण हैं । अनादिकाल से सारे भक्त आपकी स्तुति कर रहे हैं, पर आपको तो कभी अहंकार हुआ नहीं, ऐसी स्थिति में यह प्रशंसा आपको ही निवेदित है ।"

तो, नारद ने भी यदि ऐसा ही किया होता और काम की प्रशंसा सुनकर यदि वे गद्गद होकर सोचते कि भगवान् कितने कृपामय हैं जो दुर्गुणों से मुझे बचा लिया और काम-क्रोध-लोभ से मुझे सुरक्षित रखा, तो प्रशंसा भगवान् को अर्पित हो जाती और नारद अहंकार से न बँध पाते । पर नारद बहुत दिनों से भूखे थे ! जैसे सभी इन्द्रियों की अपनी भूख होती है, वैसे ही कान की भी तो भूख होती है, तो, नारद को बहुत दिनों से कान से प्रशंसा के शब्द सुनने को नहीं मिले थे, इसलिए जब प्रशंसा का भोजन आया तो उन्होंने पूरा आनन्द लेते हुए भोजन किया । वे फिर विष्णु भगवान् के पास भी पहुँच गये और जब वे भी—

सुनु मुनि मोह होइ मन ताकें।
ग्यान बिराग हृदय नहिं जाकें॥
ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा।
तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥१/१२८/१-२

—कहकर प्रशंसा करने लगे, तब नारदजी ने सोचा कि अब तो भोग लगा ही देना चाहिए। वे भगवान् से कहते हैं—

नारद कहेउ सहित अभिमाना।
कृपा तुम्हारि सकल भगवाना॥१/१२८/३

अब यदि यह बात पहले ही नारदजी की समझ में आ जाती, तो वे सारे दुर्गुणों से ही मुक्त हो जाते। पर उनका दुर्भाग्य यह है कि उनके मन में भगवान् की स्मृति नहीं आयी, उन्हें केवल अपनी श्रेष्टता का स्मरण आया। इस प्रकार एक ओर जहाँ उन्होंने अपने अन्त:करण में सत्कर्म का, साधना का इतना पवित्र धान्य उपजाया, वहीं अहंकार के बीज भी अंकुरित हो गये। उन्होंने अहंकार की घास को काटने की, मिटाने की चेष्टा नहीं की, अपितु शंकरजी के पास चले गये। यह प्रशंसा की भूख का स्वभाव है कि पेट कभी भरता ही नहीं है। वैसे तो भोजन से पेट भर जाता है, पर आपको ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जो प्रशंसा के भोजन से अघा गया हो, जो कहता हो कि अब मुझे प्रशंसा नहीं चाहिए। होता यह है कि व्यक्ति को जितनी प्रशंसा मिलती है, उसकी प्रशंसा की भूख उतनी ही बढ़ती जाती है। तो, नारद की प्रशंसा की यह भूख इतनी बढ़ गयी कि वे सोचने लगे—काम ने तो प्रशंसा कर ही दी है, अब जरा कामारि से भी अपनी प्रशंसा सुन लें, तब न कोई बात है।

इस प्रकार प्रशंसा सुनने की वृत्ति लेकर वे कैलास पर्वत पर पहुँचे। दो महान् भक्तों का मिलन हुआ। एक ओर थे देवर्षि नारद और दूसरी ओर थे भगवान् शंकर। दोनों ही महान् तत्त्वज्ञ और भगवान् के परम भक्त थे। यदि उनमें रामकथा छिड़ जाती तो आनन्द बरस पड़ता। लेकिन आज नारद भगवान् का चरित्र सुनाने की मुद्रा में नहीं थे। उन्होंने शंकरजी से कहा कि आज तक तो आपको मैं पुरानी कथा सुनाता आ रहा हूँ, पर आज एक नयी कथा सुनाने जा रहा हूँ। नारद का संकेत यह है कि भगवान् का चरित्र तो वही पुराना है, पर इस बार वे अपना चरित्र सुनाने जा रहे हैं, जिसमें नवीनता है। उन्होंने शंकरजी को सारी घटना सुनायी कि कैसे काम ने उन पर आक्रमण किया और कैसे अप्सराएँ उनके सामने नृत्य करने लगीं। इस वर्णन का एक सांकेतिक तात्पर्य है। वह यह कि जब नारद वर्णन करने लगे, तब उनके मानस-नेत्रों के सामने वे दृश्य फिर से आकर खड़े हो गये कि कैसे अप्सराएँ आयीं और कैसे उन्होंने नृत्य किया। इसका अभिप्राय यह कि बाहर से अप्सरारूप विषयों का त्याग कर देने पर भी अन्तःकरण में संस्कार के रूप में उनका सौन्दर्य, उनका नृत्य, उनका आकर्षण बना हुआ है। उस समय अप्सराओं ने उन्हें व्यामोह में भले ही न डाला हो, पर वे उन्हें भूल नहीं पाये हैं और वे सारे दृश्य उनके मन में ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। राम का उन्होंने इतनी देर जो ध्यान किया, वह तो उन्हें बिसर गया, पर काम का ध्यान बना रहा। इस प्रकार नारद रस लेकर काम की, अप्सराओं की, उनके शृंगार की और उन पर विजय पाने की पूरी गाथा शंकरजी को सुना देते हैं।

अधिकांशतः बहुत से वक्ता अपनी बात सुनाने के बाद अन्त में अपने पासवालों से पूछते हैं—क्यों, कैसा रहा? जमा कि नहीं? यह भी कान की भूख है कि कोई कहे कि बहुत अच्छा हुआ। नारदजी भी इसी भूख से प्रेरित होकर शंकरजी की ओर देखते हैं, मानो पूछना चाहते हैं कि कथा अच्छी लगी या नहीं? यह देखकर शंकरजी के मन में बड़ी दया हो आयी कि नारद रोगी हो गये। यदि कोई अज्ञानी व्यक्ति अहंकारी हो जाय, तब तो उसको बताया भी जाय कि अहंकार का त्याग करो। परन्तु जो व्यक्ति जानता है कि अहंकार जीवन में सबसे बुरी वस्तु है, अतः कभी अहंकार नहीं करना चाहिए, वही यदि आज अभिमान करके, भगवान् को भुलाकर अपना चरित्र सुनावे, तो दया का ही पात्र हो सकता है। भगवान् शंकर विनम्र शब्दों में कहते हैं—

बार बार बिनवउँ मुनि तोही (१/१२६/७)

—मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। पहला वाक्य सुनकर नारद यह देख बड़े प्रसन्न हुए कि शंकरजी मेरी स्तुति कर रहे हैं, बार-बार मुझसे विनय कर रहे हैं। पर अगले ही वाक्य में शंकरजी ने अपना क्षोभ प्रकट कर दिया। और वह क्षोभ बड़ा कठोर था—

जिमि यह कथा सुनायहु मोही ॥
तिमि जनि हरिहि सुनावहु कबहूँ ।१/१२६/७-८

अब इससे बढ़कर कथा की बुरी आलोचना हो ही नहीं सकती कि कोई कह दे—यह कथा अब कभी मत सुनाइए, वह सुनने योग्य नहीं है। भगवान् शंकर की बात से नारदजी को ऐसा लगा कि उन्हें मुझसे ईर्ष्या हो गयी है, ये नहीं चाहते

कि मेरा नाम फैले, इसलिए ये मुझे रोक रहे हैं और कपट की शिक्षा दे रहे हैं; भगवान् के सामने सरल बनना चाहिए या कि कपट करना चाहिए ? भक्ति का तो लक्षण ही है छलरहित बनना—

नवम सरल सब सन छलहीना (३/३५/५)

लेकिन इधर शंकरजी कहते हैं—

चलेहुँ प्रसंग दुराएहु तबहूँ (१/१२६/८)

—अगर भगवान् विष्णु पूछें तो भी प्रसंग छिपा लीजिए। नारद भक्ति-भाव भूल गये। बस, यही मानस-रोगों के सन्दर्भ में एक विडम्बना है। इसकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ। संक्षिप्त में इसे यों कह लीजिए कि शरीर के रोगों के सम्बन्ध में तो व्यक्ति अपने रोग को स्वीकार कर अपने को रोगी मानता है, लेकिन मन के रोगों के सम्बन्ध में सिद्धान्त बिलकुल उल्टा है। मन का रोगी अपने को रोगी न मान सामनेवाले को ही रोगी मानता है। नारदजी के साथ यही होता है। वे स्वयं रुग्ण हैं, पर रोगी समझ रहे हैं शंकर जी को। जब वे ब्रह्मलोक का लम्बा चक्कर लगाते हुए भगवान् विष्णु के लोक में गये, तो भगवान् ने देखा—

उर अंकुरेउ गरब तरु भारी (१/१२८/४)

—नारद के मन में अभिमान के भारी वृक्ष का अंकुर पैदा हो गया है। नारदजी को जिसे काट देना चाहिए था, उसे नहीं काटा है। सत्कर्म के पास अहंकार की घास तो उगेगी ही, पर बुद्धिमान् साधक उस अहंकार की घास को काटकर धान्य को आगे बढ़ने की शक्ति देता है। अतः भगवान् ने निर्णय किया—

बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी (१/१२८/५)

—मैं उसे तुरन्त ही उखाड़ फेंकूँगा। अहंकार को नष्ट करने के लिए भगवान् भाषण के द्वारा नारद को समझाने की चेष्टा नहीं करते। उन्हें लगता है कि शिवजी ने नारद को समझाने की चेष्टा की, तो नारद ने उन्हें ईर्ष्यालु समझ लिया, इसलिए यदि मैं भी उन्हें समझाने की चेष्टा करूँ, तो कहीं मुझमें भी दोष न देखने लगें, यह न सोचने लगें कि मुझे भी उनसे ईर्ष्या हो गयी है। यदि रोगी वैद्य को ही रोगी मानकर उसकी चिकित्सा करने की चेष्टा करे और कहे कि आपको दवा लेने की आवश्यकता है, तब तो रोगी स्वस्थ होने से रहा। अतः नारद के रोग को भगवान् सीधे नष्ट करने का निश्चय करते हैं। इसके लिए वे एक नयी पद्धति का आश्रय लेते हैं। नारद के मन में यही तो अहंकार था कि मैंने काम को, क्रोध को, लोभ को, बुराई को जीत लिया है। भगवान् नारद के इस अहंकार के आधार को ही नष्ट कर देना चाहते हैं। वे यह बताना चाहते हैं कि जैसे गर्मी के दिनों में घास सूख जाती है, दिखाई नहीं देती, पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि घास के बीज नष्ट हो गये, बल्कि यह जानना चाहिए कि घास के बीज तो धरती के नीचे छिपे हुए हैं और वर्षा का जल पाकर वे फिर से उग आते हैं, उसी प्रकार नारद, तुमने जिन दुर्गुणों को जीतने का दावा किया है, उन सबके बीज तुम्हारे अन्तःकरण में विद्यमान हैं, इसलिए समय पाकर वे फिर से उभड़ सकते हैं। इसे प्रत्यक्ष कराने के लिए भगवान् ने एक कौतुक किया। जब देवर्षि नारद चलने लगे, तो भगवान ने अपनी माया को प्रेरित किया—

श्रीपति निज माया तब प्रेरी (१/१२८/८)

'रामचरितमानस' में उत्तरकाण्ड में कहा गया है

कि सारे दुर्गुणों के मूल में माया है। माया से मोह पैदा होता है और मोह से मनुष्य के अन्तःकरण में सारे दुर्गुणों की सृष्टि होती है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

मोह न अंध कीन्ह केहि केही।
को जग काम नचाव न जेही।।

तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा।
केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा।।७/६९/७-८

ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार।। (७/७०/क)

गुन कृत सन्यपात नहिं केही।
कोउ न मान मद तजेउ निबेही।।

जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा।
ममता केहि कर जस न नसावा।।
मच्छर काहि कलंक न लावा।
काहि न सोक समीर डोलावा।।७/७०/१-३

सुत बित लोक ईषना तीनी।
केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी।।७/७०/६

सुननेवाला तो घबरा गया कि वर्णन का अन्त ही नहीं हो रहा है। पूछ उठा—महाराज, इन दुर्गुणों की संख्या और कितनी है? गोस्वामीजी बोले—

यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमिति को बरनै पारा।।७/७०/७

—'अरे, यह सब माया का बड़ा बलवान् परिवार है, यह अपार है, इसका वर्णन कौन कर सकता है?' यह कह साथ में यह भी जोड़ दिया—

सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं ।।७/७०/८

—इस माया से शिवजी और ब्रह्माजी डरते हैं, तब दूसरे जीव भला किस गिनती में हैं? इस घटना के माध्यम से भगवान् बस यही दिखाना चाहते हैं कि जब नारद-जैसे व्यक्ति के अन्तःकरण में अहंकार का उदय हो सकता है, तो कोई भी व्यक्ति जो सावधान नहीं रहेगा और अहंकार को नष्ट करने का दृढ़निश्चयी नहीं होगा, निश्चित रूप से अहंकारग्रस्त हो जाएगा। तो, भगवान् अपनी माया को प्रेरित कर एक नगर की रचना करते हैं—

बिरचेउ मग महुँ नगर तेहिं सत जोजन बिस्तार।
श्रीनिवासपुर तें अधिक रचना बिबिध प्रकार ।।१/१२९

भगवान् की वह माया वैकुण्ठ से भी अधिक सुन्दर एक चित्र-विचित्र नगर की सृष्टि करती है। एक ओर लक्ष्मी हैं, जो भक्तिरूपा हैं और दूसरी ओर माया है, जिसके द्वारा दुर्गुणों की सृष्टि होकर व्यक्ति भ्रमित होता है। माया की वृत्ति के कारण मनुष्य के अन्तःकरण में मोह उत्पन्न होता है और उसका सारा ज्ञान विस्मृत हो जाता है। नारद के साथ यही हुआ। वे यह भी तो सोच सकते थे कि जब मैं जा रहा था तब रास्ते में यह नगर तो था नहीं अब आते समय कहाँ से आ गया? लेकिन इस बात पर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। जो नहीं था, यदि वह दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि वह जादू का ही खेल है। और जादू के खेल को बस देखना ही चाहिए। जादूगर के हाथ में मिठाई देखकर यदि कोई लपककर खा लेने की इच्छा करे तो उसमें खतरा है। तो, नारद यदि देखते कि यह भी कोई जादूगरी का, माया का खेल है, तो वे बच जाते। लेकिन

वे ऐसा नहीं देख पाते। उन्हें वह नगर बड़ा आकर्षक प्रतीत होता है। और वे उसे देखने के लिए आगे बढ़ जाते हैं। उनके चित्त में विपर्यय उपस्थित होता है। नगर के शील-निधि नाम के राजा ने आकर उन्हें प्रणाम किया और अपनी कन्या को बुलवाया। कन्या का नाम है विश्व-मोहिनी। गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में सूत्र देते हैं कि माया तो विश्व को सम्मोहित ही करती है और यह मोह-जनित मल करोड़ों उपाय से भी नहीं छूटता--

मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि
कोटिहु जतन न जाई। ८२

ऐसी विश्वमोहिनी को बुलाकर राजा शीलनिधि नारदजी से कहते हैं--

आनि देखाई नारदहि भूपति राजकुमारि।
कहहु नाथ गुन दोष सब एहिके हृदयँ बिचारि॥१/१३०

--हे नाथ, आप अपने हृदय में विचारकर इसके सब गुण-दोष कहिए।

गोस्वामीजी यहाँ पर शब्दों को उलट देते हैं। जिस समय हिमाचल ने अपनी पुत्री का हाथ नारदजी को दिख-लाया था तो उनसे कहा था--

'कहहु सुता के दोष गुन' (१/६६)

--कन्या में क्या दोष-गुण हैं आप बताइए। पहले उन्होंने दोष का नाम लिया, फिर गुण का। और जब विश्वमोहिनी के पिता ने अपनी कन्या का हाथ दिखाया, तो उसने कहा--'कहहु नाथ गुन दोष सब'--इसके गुण और दोष बताइए। इसका अभिप्राय क्या है ? यही कि जहाँ वात्सल्य है, वहाँ यह चिन्ता रहती है कि यदि कोई कमी है, दोष है, तो

उसका निराकरण होना चाहिए। पर जहाँ पर उद्देश्य ही मोहित करना है, वहाँ पर दोष का उल्लेख केवल कहने भर के लिए हो रहा है, मूलरूप से तो वहाँ गुण की तरफ ही आकृष्ट किया जा रहा है। इसीलिए शीलनिधि एक पिता के रूप में नहीं, बल्कि माया के प्रति आकर्षण की वृद्धि करने के लिए कहते हैं कि महाराज, जरा बताइए इस कन्या में क्या गुण हैं और क्या दोष। नारदजी ने जब कन्या को देखा तो उनको लगा कि उसमें सब गुण ही गुण हैं। यदि उन्होंने थोड़ा विचार किया होता तो समझ गये होते कि सृष्टि में जहाँ गुण हैं, वहाँ दोष भी अवश्य हैं। जब पार्वती के बारे में उन्होंने बताया था, तब उनके गुणों का वर्णन करके कहा था——

'सुनहु जे अब अवगुन दुइ चारी' (१/६६/७)

——तुम्हारी कन्या में जो दो-चार कमियाँ हैं, उन्हें भी सुन लो। लेकिन विश्वमोहिनी के प्रसंग में उन्होंने शीलनिधि राजा से उनकी कन्या के दोष की चर्चा तक नहीं की। इसका अभिप्राय यह कि उनको माया में गुण ही गुण दिखाई दे रहा है, दोष का दिखना बन्द हो गया है। यह दोष का दिखना बड़े महत्त्व की बात है। यदि व्यक्ति को दोष दिखाई देता रहे तो स्वाभाविक रूप से वह दोष की ओर से सावधान रहेगा। दोष को देखकर उसके अन्तःकरण में वैराग्य की सृष्टि होगी। पर जब उस व्यक्ति को दोष न दिखाई दे तो उसका परिणाम मोह ही तो होगा? और वही नारदजी के जीवन में हुआ। फलस्वरूप उनमें अन्य विकारों का उदय हुआ। जब उन्होंने विश्वमोहिनी का हाथ देखा, तो शीलनिधि ने उनसे पूछा——महाराज, लड़की के हाथ में क्या लिखा है? नारदजी उत्तर में बोले——

जो एहि बरइ अमर सोइ होई ।
समरभूमि तेहि जीत न कोई ।।
सेवहिं सकल चराचर ताही ।
बरइ सीलनिधि कन्या जाही ।।१/१३०/३-४

नारदजी ने मोह के कारण पाठ उल्टा पढ़ा । नारजी को कहना तो यह चाहिए था कि ऐसे-ऐसे लक्षण जिस वर में होंगे, उससे इस कन्या का विवाह होगा, जैसा कि उन्होंने शंकरजी के प्रसंग में कहा था कि ये जितने लक्षण मैंने बताये वे शंकरजी में हैं, इसलिए इसका विवाह शंकरजी से होगा । पर यहाँ पर उनकी बुद्धि में विपरीतता आ गयी । उन्होंने लक्षणों का उल्टा अर्थ ले लिया । 'जो एहि बरइ अमर सोइ होई' का अर्थ उन्होंने यह लगाया कि जो इस कन्या से विवाह करेगा, उसमें अमरता आदि के गुण आ जाएँगे । अर्थात् पहले तो वह मरणधर्मा ही होगा, पर जब इस कन्या से उसका विवाह हो जाएगा तो अमर हो जाएगा । तात्पर्य यह कि पहले तो लोग उसको कुछ नहीं मानते रहेंगे, पर विवाह के बाद उसकी पूजा करने लगेंगे ! अभिप्राय यह कि जो कुछ मिलेगा, वह माया की कृपा से, माया के द्वारा मिलेगा ! ! देवर्षि नारद के जीवन में माया की यही विकटता दीख पड़ती है । वैसे स्वभावतः नारद बड़े सत्य-वादी हैं; यदि उनसे कोई पूछे कि सबसे बड़ा पाप क्या है, तो वे यही कहेंगे कि——

नहिं असत्य सम पातक पुंजा ।
गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा ।।२/२७/५

——असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं है । क्या करोड़ों घुँघ-चियाँ मिलकर भी पहाड़ के समान हो सकती हैं ? पर आज

नारद मोह में पड़ गये हैं, इसलिए जानते हुए भी सत्य को दबा जाते हैं । गोस्वामीजी लिखते हैं—

लच्छन सब बिचारि उर राखे ।
कछुक बनाइ भूप मन भाषे ।।१/१३०/५

——मुनि ने सब लक्षणों को विचारकर मन में रख लिया और राजा से कुछ अपनी ओर से बनाकर कह दिये । उन्हें लगा कि यदि मैं यह सच-सच बता दूँ, तो ये कहीं अपनी कन्या का विवाह किसी दूसरे से न कर दें, इसलिए मैं ही योजना बनाकर उसे प्राप्त कर लूँ । उसके पश्चात् नारद के जीवन में सारे दुर्गुण——काम, क्रोध, लोभ, मद और मात्सर्य—दिखाई देने लगे, जिन सबके मूल में रामायण के अनुसार—

पुनि नारद कर मोह अपारा (७/६३/८)

——उनका यही अपार मोह है । भगवान् ने मानो बता दिया कि नारद, तुम वृथा गर्व कर रहे हो कि तुमने काम को जीत लिया, देखो तुम तो काम में इतने पागल हो रहे हो, जितना एक गृहस्थ भी नहीं होता ! गृहस्थ कामी भी बनता है तो सुबह उठकर पूजा-पाठ तो कर ही लेता है, पर नारद की दशा ऐसी हो गयी है कि कहते हैं——

जप तप कछु न होइ तेहि काला ।
हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला ।।१/१३०/८

नारद को बड़ा गर्व था कि मुझे गर्व नहीं आया । पर भगवान् ने उन्हें दिखा दिया कि तुम कितने गर्वीले हो ! अरे, तुम तो मुझ पर क्रोध कर रहे हो, मुझे गाली दे रहे हो, मुझे शाप दे रहे हो ! तुम्हारा सारा अभिमान व्यर्थ है । नारद जब इस सत्य को समझ लेते हैं, तब भगवान्

उनके अलग-अलग विकारों को दूर करने के बदले विकारों के मूल में जो मोह की वृत्ति विद्यमान है, उसी को दूर कर देते हैं--

जब हरि माया दूरि निवारी।
नहिं तहँ रमा न राजकुमारी ।।१/१३७/१

और जब विश्वमोहिनी नहीं रही--

तब मुनि अति सभीत हरि रचना।
गहे पाहि प्रनतारति हरना ।।१/१३७/२

जब तक माया थी, तब तक भगवान् से झगड़ रहे थे और जब माया का लोप हो गया, मोह दूर हो गया, तो भगवान् के चरणों में गिर पड़े और कहने लगे--

मृषा होउ मम श्राप कृपाला।
मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे।
कह मुनि पाप मिटहिं किमि मेरे ।।१/१३७/३-४

--महाराज, मेरा पाप कैसे मिटे यह बताइए। मुझसे जो दोष हुआ है, उसका प्रायश्चित्त क्या है? भगवान् विष्णु ने मुसकराकर कहा--

जपहु जाइ संकर सत नामा (१/१३७/५)

--जाकर शंकरजी के शतनाम का जप करो। उन्होंने मुनि को शंकरजी की याद दिला दी। प्रभु का संकेत यह है कि मुनि, यदि तुमने शंकरजी की बात सुनी होती, तो समस्या ही न आती!

गोस्वामीजी इस प्रसंग का नाम 'नारद-मोह' देते हैं। यह सार्थक नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि दुर्गुणों के बीज व्यक्ति के अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं और समय पाकर वे अंकुरित हो उठते हैं। रामायण में यह दावा किया गया है कि बड़े से बड़ा व्यक्ति भी इसका अपवाद नहीं है,

ऐसा कोई नहीं है जो कह सके कि उसके अन्तःकरण में दुर्गुणों के संस्कार नहीं हैं। यदि कोई ऐसा कहता है, तो वह अपने जाने हुए सत्य का तिरस्कार करता है और फलस्वरूप मन तथा शरीर की दृष्टि से अस्वस्थ हो उठता है। इसलिए 'रामचरितमानस' में सारे रोगों के मूल में मोह का होना बताया गया है। मोह कोई रोग नहीं है, पर रोगों का जन्मदाता है। इस मोह से उत्पन्न अलग-अलग रोगों का 'रामचरितमानस' में विश्लेषण करते हुए जो बतलाया गया है कि हम रोगों को कैसे पहचानें और उन्हें दूर करने की कैसी चेष्टा करें, उसकी चर्चा आगे की जाएगी।

○

हमारी सांस्कृतिक विरासत और आज की व्यवस्था

सुशील चन्द्र वर्मा

(ई१/४८ अरेरा कालोनी, भोपाल)

कितनी गिरावट आ गयी है, आती जा रही है, भारत की मौजूदा व्यवस्था में। चाहे प्रशासन हो, चाहे व्यापार हो, चाहे रोजमर्रा का जीवन हो, चाहे जन-आचरण हो, चाहे नैतिक स्तर हो। एक प्रकार की होड़ लगी है, नीची से नीची सतह पर उतरने की। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के साधन जुटाने में सब लगे हैं, धन एकत्रित करने के लिए, सत्ता हथियाने में, प्रतिष्ठा पाने के लिए, चाहे फिर वह प्रतिष्ठा अन्दर से खोखली ही क्यों न हो। तनिक भी फिक्र नहीं है कि जो तरीके अपनाये जावें वे पाक-साफ हों। जो मंजिल मन में ठान ली है, उस तक पहुँचना ही है, तौर-तरीके गलत भी हों तो चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। साधन ने दबोचकर रख दिया है सच्ची साधना को। पर भाग्यवश इस रोग से पीड़ित है भारत की अपार जनसंख्या का केवल एक छोटासा वर्ग, नेताओं का, नौकरशाही का, जमाखोरों का, तस्करों का, काले धनियों का। भारत के ८० करोड़ नर-नारी और बच्चे अभी भी अपने ईमान को कायम रखने की लगन रखते हैं, उसकी हिफाजत करते हैं। भूखे हैं, नंगे हैं, सिर पर साया नहीं है, पीड़ित हैं अनेक प्रकार से, पर वे भारत की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत को सँजोकर रख रहे हैं। भारत की काया के कुछ छोटे-छोटे अंगों में रोग घुस गया है, पर हृदय निर्मल है, विशाल है, उदार है। इस स्थिति का सबूत मिलता है जब कुम्भ मेले और अन्य धार्मिक आयोजनों में

लाखों की संख्या में भीड़ जुटती है। ईद के मौके पर हजारों की संख्या में लोग खुदा की इबादत करने आते हैं, दुआ माँगते हैं। उर्दू शायर इक़बाल लिखते हैं—

एक ही सफ़ में खड़े हो गये महमूद ओ अयाज़,
न कोई बंदा रहा न कोई बंदा नवाज़।

बंदा ओ, साहबो मुहताज व गनी एक हुए,
तेरी दरगाह में पहुँचे तो सभी एक हुए।

गिरजाघरों और गुरुद्वारों में नर-नारी और बच्चों की श्रद्धा और लगन देखकर हृदय गद्‌गद हो जाता है। भारत का इन्सान अभी भी, बीसवीं सदी के आखरी दशकों में, ईश्वर पर भरोसा रखता है और अपने-अपने धर्म और शास्त्रों में बताये गये रास्ते पर चलता है। अभी भी इस देश में ऋषि, मुनि और सन्त धर्म की धुरी सँभाले हुए हैं। गरीबी जरूर है, पर चरित्र की पवित्रता कायम है। भारत के आम इन्सान का अपना आत्म-सम्मान है, फटे कपड़ों के अन्दर से भी उसके गर्व की आभा झलकती है। अमीरों की तरह वह निन्दनीय और घृणित हथकण्डे नहीं अपनाता, किसी का शोषण नहीं करता, दौलत के पीछे नहीं दौडता।

विरासत में भारत को अनमोल धन मिला है। वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृति, रामायण, महाभारत, गीता इत्यादि सत्य, त्याग, तप, निष्ठा, दया की मिसालों से भरे हैं। एक नहीं हजारों महान् आत्माओं ने ऐसे-ऐसे आदर्श देशवासियों के मार्गदर्शन के लिए प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें सुनकर ही मनुष्य चकित हो जाता है। हमारे ग्रन्थों में स्वार्थ, अहंकार, राग-द्वेष, अनाचार, अत्याचार एवं अनेक तामसी कर्मों की खुलकर निन्दा की गयी है। उनकी

खिल्ली उड़ायी है। भारत ऐसा देश है, जहाँ न केवल ऋषि-मुनि समय-समय पर समाज को नयी दिशा देते रहे हैं, बल्कि शास्त्रों के अनुसार परमपिता परमेश्वर ने स्वयं आदर्श प्रस्तुत करने के लिए जन्म लिया है। विरासत के भण्डार इतने भरे पड़े हैं, जिसकी तुलना नहीं की जा सकती। आज के बिगड़ते हुए हालात की पृष्ठभूमि में यह अत्यन्त आवश्यक है कि पूरा देश सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत की याद करे, जिससे कि मनुष्यत्व का जो क्षय होना दिख रहा है उसमें रोक लग जाए। भाग्यवश इस दिशा में भारतवासियों का रुझान बढ़ता नजर आ रहा है। उम्मीद कायम होती है कि धर्म की जो ग्लानि होती दिख रही है, उसमें रुकावट जरूर आएगी। गुमराह नज़र आता मुल्क अनकरीब ही धर्म की राह पर कदम रख तेज रफ्तार से आगे बढ़ेगा।

अक्सर यह कहा जाता है कि भारत में परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है। कुछ लोग इसे भारत का पिछड़ापन कहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत का आकार और उसकी करोड़ों की जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए परिवर्तन की स्थिति पैदा करना कठिन है। पर इसका एक अच्छा पहलू यह है कि भारत में जो कुछ भी होता है, उसकी अच्छी तरह से परख की जाती है। छोटे-छोटे देशों की तरह, जिनकी कोई सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत नहीं है, भारत गिरगिट की तरह रंग नहीं बदलता है। भारत की यह स्थिरता बहुत लाभदायक साबित हुई है। यदि ऐसा नहीं होता, तो भारत की शक्ल आज अफ्रीका और अमरीका के देशों जैसी होती। इन महाद्वीपों में जब यूरोप के जत्थे के जत्थे पहुँचे, उन्होंने आदिम

जातियों की सभ्यता नेस्तनाबूद कर दी। ऐसा तूफान छोड़ा जिसके सामने मूल निवासियों के पैर उखड़ गये। उनकी मान्यताएं, उनके ठौर, उनके जीवन की प्रणाली, सब कुछ यूरोप के देशों के प्रभाव से परिवर्तित हो गयी। अमेरिकी महाद्वीपों में तो मूल निवासियों का प्रायः सफाया ही कर दिया गया है। अफ्रीका के देशों में ऐसा नहीं हो पाया, पर इस महाद्वीप की जो मूल सभ्यता थी, उसकी झलक देखने तक को नहीं मिलती। यहाँ तक कि पहले जो कुछ भी उनका मजहब रहा होगा, उसका नामोनिशान तक नहीं है। प्रायः पूरे अफ्रीका महाद्वीप में इस्लाम और ईसाई धर्म पहुंच गया। ऐसा नहीं कि भारत की शक्ल-सूरत को बदलने की कोशिशें नहीं की गयीं। पर भारत की नींव बहुत गहरी है। उसकी संस्कृति और इतिहास हजारों वर्ष पुराने हैं। भारत में विदेशियों के अनेक हमले हुए, पर वे इस देश की रीढ़ झुका तक नहीं सके। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कितनी सुन्दरता से भारत की शक्ति का वर्णन किया है—

> केहो नाहि जाने, कार आह्वाने, कतो मानुषेर धारा,
> दुर्वार स्रोते एलो कोथा होते, समुद्रे होलो हारा।
> हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़ चीन,
> शक हूण-दल, पाठान-मोगल, एक देहे होलो लीन।

—किसी को भी ज्ञात नहीं है कि किसके आह्वान पर मनुष्यता की कितनी धाराएँ दुर्वार वेग से बहती हुई कहाँ-कहाँ से आयीं और इस महासमुद्र में मिलकर खो गयीं। यहां आर्य हैं, यहाँ अनार्य हैं, यहाँ द्रविड़ और चीनी वंश के लोग भी हैं। शक, हूण, पठान और मुगल न जाने कितनी

जातियों के लोग इस देश में आये और सबके सब एक ही शरीर में समाकर एक हो गये ।

रामायण और गीता में भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का निचोड़ है । इन पर जरा नजर डालें ।

गीता के तीसरे अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन से कहा——

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

——यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मों में न बरतूं तो बड़ी हानि हो जाय, क्योंकि मनुष्य सभी प्रकार से मेरे ही मार्ग का अनुसरण करता है ।

उसी अध्याय में कृष्ण फिर कहते हैं——

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

——श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, अन्य मनुष्य-समुदाय भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वे जो प्रमाण कर देते हैं, समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार बरतने लगते हैं ।

कितनी खूबी है इन श्लोकों में । ये दोनों श्लोक कितना उपदेश रखते हैं उन व्यक्तियों के लिए, जो भाग्यवश ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर आरूढ़ हो गये हैं । कितनी आवश्यकता है इस बात की कि जिन व्यक्तियों के हाथ शासन की बागडोर है, वे अपना आचरण ठीक रखें । भगवान् कहते हैं कि उन्हें भी स्वयं सावधान होकर कर्म करने की आवश्यकता है । भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वज्ञाता हैं, पूरी सृष्टि को जन्म देते हैं । फिर भी वे "सावधान" रहने की चेतावनी देते हैं । जब भगवान् स्वयं अपने लिए ऐसा बन्धन व्यक्त

करते हैं, तो मनुष्य के लिए तो यह और भी आवश्यक है कि वह जो भी कर्म करे, उसके गुण-दोष के बारे में और दूसरों पर उसका क्या असर पड़ेगा, इस पर सावधानी-पूर्वक विचार करे। अभाग्यवश भारत में ऐसी धारणा बनी है कि जो सत्ता में हैं, ऊँचे पदों पर आरूढ़ हैं, वे जैसा चाहें वैसा आचरण कर सकते हैं। ऐसे व्यक्ति दूसरों को अनेक प्रकार के उपदेश देते हैं। पर अच्छे आचरण के बारे में खुद अपने जीवन में अपने ही द्वारा कहे जानेवाले उपदेश का पालन नहीं करते। दो प्रकार के मापदण्ड स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। एक उस श्रेणी के लिए, जिसके हाथ प्रभुता लग गयी है। दूसरा, सामान्य नर-नारी के लिए। पर मनुष्य-समाज में आचरण के कभी भी दो मापदण्ड न तो स्वीकार किये जाएंगे और न उनका चलन होगा।

मौजूदा भारतीय जीवन के भयंकर प्रकोप हैं—चापलूसी, चाटुकारी और व्यक्ति-पूजा। एक बड़ी घातक विकृति यह है कि बिना डर और लालच के विचार व्यक्त करना गुनाह समझा जाता है। आशा थी कि नयी पीढ़ी के द्वारा बागडोर सँभालने पर इस बीमारी से देश निजात पाएगा। पर उल्टा ही हो गया है। अब तो न केवल "हाँ में हाँ" मिलाना पड़ता है, बल्कि सियारों के समूह के समान यदि एक सियार ने "हुआ" "हुआ" चिल्लाना शुरू किया, तो वहाँ राग सब अलापने लगते हैं। होड लगती है कि किस सियार की आवाज सबसे बुलन्द थी। मातहत व्यक्ति चाहे वे मंत्री हों या शासकीय अधिकारी, ऐसी सलाह देते हैं या विचार व्यक्त करते हैं, जो ऊँचे पद पर बैठे हुए व्यक्ति पसन्द करें। ऊँचे से ऊँचे पद पर आरूढ़ नेता केवल वही

बात सुनना चाहते हैं, जो उन्हें पसन्द हो या जिसके बारे में उन्होंने अपनी राय कायम कर ली हो। पूरा प्रशासकीय तंत्र इस रोग से ग्रसित है। विदेशी राज्य के समय तक प्रशासन की यह परम्परा रही थी कि अधिकारी-वर्ग खुल-कर अपनी राय व्यक्त करते थे। इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं की जाती थी कि जिसे राय दी जा रही है, उसे वह राय पसन्द आएगी या नहीं। केवल गुण-दोष के आधार पर विचार व्यक्त किये जाते थे। ऐसा करना मानसिक ईमानदारी की निशानी थी। इधर १५-२० वर्षों मे हालात बिलकुल बदल गये हैं। केवल प्रशासन में ही नहीं, बल्कि उद्योग, व्यापार और यहाँ तक कि धार्मिक संस्थाओं में भी यह प्रवृत्ति देखी जा रही है कि सुर में सुर मिलाओ। मन में कुछ और विचार रहते हैं, पर बोलने और लिखने में बिलकुल उसके विपरीत राय व्यक्त की जाती है। इसका बुरा असर कुछ समय बाद सामने आने लगता है। गलत राय पर आधारित जो भी निर्णय लिये जाएँगे, अन्ततः वे नुकसानदायक होंगे। ऊँचे पदों पर आरूढ़ व्यक्ति गुमराह हो जाते हैं। गलत निर्णयों के जाल में वे फँसते जाते हैं और एक दिन उनका पतन हो जाता है।

चाटुकारी के खतरे से बचने के लिए 'रामचरित-मानस' तक में आगाह किया गया है। तुलसीदासजी ने लिखा है--

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन नीति कर होइ बेगिहीं नास।। ५/३७

--मंत्री, वैद्य और गुरु--ये तीन यदि तो अप्रसन्नता के भय या लाभ की आशा से हित की बात न कहकर प्रिय बोलते हैं, तो राज्य, शरीर और धर्म, इन

तीनों का शीघ्र ही नाश हो जाता है। कितने स्पष्ट शब्दों में ठकुरसुहाती की बुराइयों को सामने रखा गया है। विरासत में मिले इस उपदेश की अवहेलना की जा रही है, पर कीमत भी चुकानी पड़ रही है।

रामायण सम्बन्धित एक प्रसंग सन्तों से सुना जाता है। १४ वर्ष वन में रहने के उपरान्त भगवान् राम अयोध्या वापस आये। उनका राजतिलक हुआ। कहा जाता है कि रात्रि के समय रघुनाथजी कैकेयी के कक्ष में गये। वहाँ तीनों माताएँ कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी और तीनों छोटे भाई अपनी पत्नियों समेत उपस्थित थे। सीता तो रघुनाथ के साथ ही आयी थीं। भगवान् राम ने अपने छोटे भाइयों की पत्नियों से कहा कि अयोध्या वापस आने पर वे बड़े प्रसन्न हैं, उनका राजतिलक भी हो गया है, अतः उन लोगों को जो भाये, उसे वे माँग लें। भगवान् राम ने उर्मिला से पूछा कि उनकी क्या इच्छा है। उर्मिला ने कहा कि लक्ष्मण को राम और सीता की सेवा करने का अवसर मिला, यही उनके लिए सब कुछ है और उन्हें कुछ नहीं चाहिए। तब राम ने भरत की पत्नी माण्डवी से पूछा कि उन्हें क्या चाहिए। माण्डवी ने कहा कि राम ने भरत के प्रति कृपा और विश्वास प्रदर्शित किया है, वही पर्याप्त है, उन्हें और कुछ नहीं चाहिए। तब बारी आयी शत्रुघ्न की पत्नी श्रुतिकीर्ति की। राम ने उनकी ओर देखा और अनुरोध करते हुए कहा कि कम से कम वे तो कुछ मागें। श्रुति ने पूछा, "मैं जो माँगूँगी वह आप देंगे?" भगवान् ने पूरी तरह आश्वस्त किया। तब श्रुति ने कहा, "मेरी

विनती है कि पेड़ों की छाल के जो कपड़े (वल्कल) आपने पहने थे, वे मुझे दे दिये जाएँ।" यह माँग सुनकर रामजी को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने श्रुति से पूछा, "यह किस प्रकार की माँग है? तुम वल्कल का क्या करोगी? मैं समझता था कि किसी कीमती चीज की माँग करोगी।" श्रुति ने उत्तर दिया, "महाराज, आपके द्वारा पहने गये वल्कल को मैं महल में प्रदर्शित करूँगी, जिससे सूर्यवंश में होनेवाले राजा स्वयं देखें कि उनके कुल में एक ऐसा राजा पैदा हुआ था, जिसने १४ वर्ष वल्कल पहनकर वन में बिताये थे।" सादगी के जीवन के महत्त्व को सामने लाने की इससे और अच्छी मिसाल क्या हो सकती है? कितना बड़ा उपदेश रामायण के इस प्रसंग ने भारत के सामने रखा है, सादगी का। महिमा कुछ और ही होती है सरल एवं स्वच्छ जीवन की। आज के हालात ये हैं कि नेता, अफसर और धनाढ्य वर्ग ऐसे ऐश्वर्य में जीवन बिता रहे हैं, जिसे देखकर समृद्ध देश के लोग भी आश्चर्य करते हैं। कहाँ तो ८० करोड़ के इस देश में ५० प्रतिशत जनता गरीबी की रेखा के नीचे का जीवन बिताती है और कहाँ एक छोटा सा वर्ग देश की सम्पत्ति हथियाकर ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर कर रहा है!

रामायण के प्रसंग की बात तो अतीत की है। हमारे सामने ही इसी युग में मोहनदास करमचन्द गाँधी जैसे महान् व्यक्ति ने अपना पूरा जीवन झोंपड़ी और खादी की धोती पहनकर बिताया। यदि कोई सेवाग्राम जाकर देखे, तब उसे एहसास होगा

कि किस सादगी से गाँधीजी रहते थे। जिस कुटिया में उन्होंने अपना जीवन बिताया और अँगरेजी सल्तनत की नींव हिला दी, उसकी आज की भी कीमत ५-६ हजार रुपये से अधिक नहीं होगी। जब गाँधीजी ने कुटिया बनवायी होगी, तब उस समय तो कुछ सौ रुपये में ही उसका निर्माण पूरा हो गया होगा। देश के सामने इतना ताजा और ज्वलन्त उदाहरण रहते हुए भी हमने सादगी के जीवन को अपनाया नहीं है। इस भूल के लिए देश को भारी कीमत चुकानी पड़ रही है—भ्रष्टाचार, धनसंग्रह और शोषण के रूप में। अमीरों के गुणगान किये जा रहे हैं, चाहे वे तस्करी क्यों न करते हों। उनके पीछे भीड़ जमा होती है जय-जयकार करने के लिए। कितनी सार्थकता है इस श्लोक में—

> यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
> स पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः।
> स एव वक्ता स च दर्शनीयः
> सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते ॥

—जिसके पास धन है, वही व्यक्ति उच्चकुल का माना जाता है। वही विद्वान्, वेदों का अधिकारी और गुणों का पारखी माना जाता है। वही श्रेष्ठ वक्ता है और वही दर्शन योग्य है। इस प्रकार सब गुण मनुष्य में नहीं, धन में होते हैं।

निडर होकर राय वही दे सकता है, जिसकी स्वयं की नीयत साफ हो और जिसमें नैतिक ताकत हो। यदि राय व्यक्त कर रहा व्यक्ति स्वयं भ्रष्टाचार के चंगुल में फँस चुका है या किसी स्वार्थ या भय से

प्रेग्न है, तब वह कभी भी खुलकर अपनी बात नहीं कह सकेगा। निजी क्षेत्र में व्यक्ति के मन में दूसरे की नाराजी का भय कुछ वाजिब लगे, पर शासकीय क्षेत्र में तो भारतीय संविधान के द्वारा इतना सुदृढ़ संरक्षण शासकीय कर्मचारियों को दिया गया है कि उनके मन में किसी प्रकार के संकोच का तनिक भी औचित्य नहीं है। दरअसल संविधान के संरक्षण का मुख्य उद्देश्य ही यह है कि शासन का कार्य खुले तौर से हो, आड़ में नहीं, अँधेरे में नहीं। यदि खुलकर राय देने से मंत्री अप्रसन्न हो जावे, तो वह कर भी क्या सकता है? स्थानान्तर कर देगा या इधर-उधर के पदों पर आरूढ़ कर देगा, जो महत्त्वपूर्ण या प्रभावशाली नहीं माने जाते हैं। इस स्थिति के लिए शासकीय कर्मचारियों को तैयार रहना चाहिए। पर ऐसा हो नहीं रहा है। मंत्रीवर्ग को प्रसन्न रखने की भरसक कोशिश की जाती है। जाहिर है कि इन हालात के लिए जिम्मेदार हैं भ्रष्ट और स्वार्थी कर्मचारी। अफसोस की बात तो यह भी है कि चाटु-कारी, चापलूसी, स्तुतिगायन इत्यादि बुराइयों से सीनियर अधिकारीवर्ग परे नहीं है। जिन कुरीतियों का दोष वे मंत्री के ऊपर मढ़ते हैं, उस प्रकार का दबाव वे स्वयं अपने मातहत कर्मचारियों के ऊपर डालते हैं। जाहिर है कि बात फिर आ जाती है अपने स्वयं के आचरण की। जब तक इस दिशा में खामियाँ रहेंगी, तब तक कभी भी ऊँचे पदों पर आरूढ़ व्यक्तियों के उपदेश और भाषणों का कोई असर नहीं होगा।

सांसारिक क्षेत्रों में घुसी हुई खामियों को तो एक

बार समझा भी जा सकता है, पर आश्चर्य होता यह देखकर कि धार्मिक क्षेत्र में भी ठकुरसुहाती का रोग घर कर गया है। बड़े बड़े मठाधीश ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर करते हैं। वे भी चाहते हैं कि उनकी स्तुति का गान सदा चलता रहे। जो कुछ भी वे कहें, उसकी वाहवाही होनी चाहिए। आजकल के आश्रमों में होड़ लगी है कि कितने विदेशी शिष्य वहाँ आते-जाते रहते हैं। मठाधीश अपने प्रवचनों में यह कहना भी नहीं भूलते कि उन्होंने विदेश की कितनी यात्राएं की हैं और विदेश में कहाँ कहा उनके मठ की शाखाएँ खोल दी गयी हैं। बड़ी वेदना होती है यह सब देखकर। एक युग था जब यही भारत एक से एक विद्वान् और चरित्रवान् ऋषि-मुनियों से भरपूर था। उनके पवित्र आश्रमों से ही वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, गीता के सन्देश प्रसारित हुए थे। एक से एक दिग्गज पैदा हुए थे—वाल्मीकि, अत्रि, पिप्पलाद, विश्वामित्र, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य, अगस्त्य इत्यादि। इन महान् आत्माओं की लगन और परिश्रम के फलस्वरूप ही भारतीय संस्कृति की ऐसी गहरी नींव पड़ी कि आज तक इस प्राचीन देश की रचना को कोई हिला नहीं पाया है। विश्वास और आशा है कि इन विभूतियों के द्वारा दी गयी विरासत ही देश को मौजूदा नैतिक संकट से उबार लेगी।

○

मामा वरेरकर और उनकी 'विवेकानन्द स्मृति'

स्वामी विदेहात्मानन्द

(रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर–४४००१२)

मराठी के सुप्रसिद्ध लेखक भार्गवराम विट्ठल उर्फ मामा वरेरकर का जन्म २७ अप्रैल १८८३ ई० को महाराष्ट्र के चिपलूण ग्राम में हुआ था। वहाँ उनके पिता डाकघर में नौकरी करते थे। विद्यालय की पढ़ाई में उनका मन रमा नहीं और निर्धनता के कारण भी उन्हें चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में ही अर्थोपार्जन में लग जाना पड़ा था। १८९८ ई० के प्रारम्भ में उनके पिता ने रत्नागिरी के सिविल अस्पताल में उनके लिए एक नौकरी की व्यवस्था करवा दी थी। बचपन से ही उनका नाटक पढ़ने और देखने की ओर आकर्षण था और अब तो उन्हें डा० कीर्तिकर के निजी पुस्तकालय में भी अनेक अँगरेजी कथा, नाटक और उपन्यास पढ़ने को मिले। तदुपरान्त १८९९ से १९१९ ई० तक उन्होंने डाक विभाग में नौकरी की।

मामा वरेरकर द्वारा रचित साहित्य का परिमाण काफी बृहत् है। १९०८ में उन्होंने अपना पहला नाटक और १९११ में पहला उपन्यास लिखा। उसके बाद के आधी शताब्दी से भी लम्बे अपने सुदीर्घ रचनाकाल में उन्होंने लगभग ३६ नाटक, २६ उपन्यास, २५ रहस्यकथा ग्रन्थ, ४ खण्डों में साहित्यिक आत्म-कथा, ६ एकांकी संग्रह, ४ कथासंग्रह और कोई १०० लेख लिखे। अनुवाद के क्षेत्र में भी उनकी

देन कम नहीं है। उन्होंने शरच्चन्द्र चटर्जी के २१ उपन्यास तथा ३ कथासंग्रह, बंकिमचन्द्र के १२ उपन्यास, प्रभातकुमार मुखोपाध्याय के ३ उपन्यास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी कुछ कुछ कथा, निबन्ध एवं नाट्य ग्रन्थ बँगला से मराठी में अनुवाद किये। कुछ अँगरेजी नाटक भी उनकी लेखनी से अनूदित होकर प्रकाशित हुए। इस प्रकार कुल १७६ ग्रन्थ उन्होंने मराठी वाङ्मय को प्रदान किये। इसके अतिरिक्त कुछ काल वे 'दुनिया' पत्रिका के सम्पादक भी रहे। उनके कुछ साहित्य का अनुवाद हिन्दी, गुजराती, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं में भी हुआ है। १९२७ से भारत में 'आकाशवाणी' की शुरुआत हुई और तभी से आजीवन वे उससे संलग्न रहे।

मामा वरेरकर मराठी के एक युगप्रवर्तक नाटककार माने जाते हैं। कारण यह है कि उनसे पहले के अधिकांश नाटक पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषयवस्तु पर ही केन्द्रित रहा करते थे, परन्तु मामा ने समकालीन सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखे। उनके इस कृतित्व के कारण ही आचार्य अत्रे ने मराठी नाट्यसृष्टि के १९२० से १९३० के बीच के काल को गड़करी-वरेरकर काल कहा है। माडखोलकर ने उन्हें महाराष्ट्र के पुरोगामी लेखकों में अग्रणी माना है। उनकी महान् साहित्य-सेवा के लिए भारत सरकार ने १९५६ ई० में उन्हें पद्मभूषण की उपाधि से भूषित किया तथा राज्यसभा का सदस्य मनोनीत किया। २३ सितम्बर १९६४ को ८२ वर्ष की आयु में दिल्ली में उनका निधन हुआ।

ऐसी विराट् साहित्यिक प्रतिभा के धनी मामा वरेरकर अपने जीवन के उषाकाल में ही स्वामी विवेकानन्द के घनिष्ठ सम्पर्क में आये थे और बड़ी गहराई से प्रभावित हुए थे—यह तथ्य काफी कम लोगों को ज्ञात है। उनके प्रकाशित मराठी साहित्य में इस बात का उल्लेख प्रायः नहीं के बराबर ही हुआ है, परन्तु सौभाग्यवश १९६३ ई० में विवेकानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर उनके संस्मरण आकाशवाणी से प्रसारित हुए और उनका अनुलेखन 'त्रिपथगा' तथा कादम्बिनी' इन दो हिन्दी मासिकों के मई, १९६३ अंक में प्रकाशित हुआ। इस स्मृतिकथा में स्वामीजी के १८९८ ई० के अलमोड़ा-प्रवास तथा उनकी संगीत-साधना की एक अन्तरंग झाँकी मिल जाती है। अतः हमें ये काफी मूल्यवान् प्रतीत होती हैं और इस कारण हम उन्हें पूरा का पूरा उद्धृत करते हैं। मामा वरेरकर की स्मृतिकथा इस प्रकार है—

"मेरे बाल्यकाल में मुझसे कोई सवाल करता कि तुम बड़े होने पर क्या होना पसन्द करोगे? तब मैं जवाब देता कि मुन्सिफ या ओहदेदार अफसर बनने के बजाय मैं संन्यासी होना ज्यादा पसन्द करूँगा। हमारे घर पर कई संन्यासी आते थे। मैं पाँच साल का था, तभी से मेरे पिताजी के पास आनेवाले इन संन्यासियों के सान्निध्य का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उनकी संन्यास-भावना के प्रति मुझमें जबर-दस्त आकर्षण पैदा हो चुका था, और अभी तक मेरे जीवन में मेरा यह आकर्षण साथ देता रहा है।

"गौड़पादाचार्य के आसन के लिए जो स्नातक

लिये जाते थे, उनमें से मैं भी एक था। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती मुझे बहुत चाहते थे। उनके मठ में रहनेवाले मेरे गुरु भवानी शंकर सुखटणकर जी का मैं परमप्रिय शिष्य था। पर मेरी माताजी ने मुझे संन्यासी नहीं होने दिया। माताजी के मना करने पर मुझे विवश होकर घर लौटना पड़ा। इससे मैं बहुत निराश हुआ।

"आगे चलकर मैंने डाक-तार विभाग में नौकरी कर ली। मेरे पिताजी ने मेरा विवाह करने का निश्चय किया। पर मैं विवाह के लिए राजी नहीं था। पिताजी वचन दे चुके थे। उनका वचन पूरा करने के लिए मुझे मजबूर होकर शादी करनी पड़ी। यह मेरी जिन्दगी की सबसे भारी निराशा थी। डाक्टर का सर्टिफिकेट लेकर मैंने छुट्टी ली और घर छोड़ा। मेरे मित्र के बन्धु नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर में पुजारी थे। वे जब नेपाल जाने लगे, तब मैं उनके साथ नेपाल की ओर चल दिया। कई घटनाएँ हुईं और मुझे नेपाल से भागना पड़ा। स्वामी विवेकानन्द के सहकारी स्वामी तुरीयानन्द और स्वामी स्वरूपानन्द के साथ मैं भारत लौट आया।

"स्वामीजी (विवेकानन्दजी) अल्मोड़ा में थे। पटना से गाड़ी में बैठकर मैं अल्मोड़ा पहुँचा। बहुत दिनों की दिल की तमन्ना पूरी हुई। स्वामीजी के पदकमलों पर मस्तक रखा, तब खुशी से हृदय भर आया। अपने हाथों से उठाकर उन्होंने मेरी पूछताछ की। मैंने अपना नाम तथा व्यवसाय बताया। लेकिन मेरा उद्देश्य क्या है, यह नहीं बताया। मैं खुशी से

फूला न समा रहा था। मुँह से एक शब्द भी न निकल रहा था। इसीलिए स्वामीजी भी खामोश हो गये। उन्होंने भी मुझसे ज्यादा सवाल नहीं किया।

"अल्मोड़ा आश्रम में संन्यासियों के मेले में मैं आराम से जीवन बिताने लगा। स्वामी तुरीयानन्द, निरंजनानन्द, सदानन्द, स्वरूपानन्द जैसे महानुभावों के साथ चार विदेशी महिलाएँ भी आश्रम में रहती थीं। वे भी स्वामीजी की शिष्या थीं। खेतड़ी के राजा साहब स्वामीजी के दर्शन के लिए पहले से आ चुके थे। मिस मार्गरेट नोबल, जो आगे चलकर 'भगिनी निवेदिता' के नाम से संसार में विख्यात हुईं, भी आश्रम में रहती थीं। इन विदेशी शिष्याओं को स्वामीजी हमारे इतिहास की पुण्यकथाएँ सुनाते थे। अपनी अनोखी शैली में वे कथाएँ कहते। तब वे इतने तन्मय हो जाते कि सुननेवालों के अन्तःपटल पर कथा के प्रसंग सजीव हो उठते, वे वर्तमान की सुध-बुध खो बैठते और सबका मन भूतकाल में स्वच्छन्द विहरने लगता। इन सब कथाओं से मैं परिचित था। बाल्यकाल में पिताजी ने मुझसे महाभारत, भागवत, रामायण तथा इन ग्रन्थों से सम्बद्ध रामविजय, पाण्डव-प्रताप जैसे प्राकृत-ग्रन्थों का पारायण करवाया था। इसीलिए मैं सब कथाएँ जानता था। तो भी स्वामीजी के मुख से कहानियाँ सुनते समय मुझे नवीनता का आभास होता। स्वामीजी के आश्रमवासियों के समान मैं भी आश्रमवासी का जीवन बिता रहा था। यहाँ पर बँगला भाषा का मुझे प्रथम ज्ञान हुआ।

"विदेशी भक्तों के साथ स्वामीजी अँगरेजी में

बातचीत करते थे। पर संन्यासी बन्धुओं के साथ बातचीत करते समय वे बँगला भाषा का प्रयोग करते थे। सुन-सुनकर मैं भी समझने लगा और भजन करते समय साथ-साथ गाने भी लगा। उस समय मेरी आवाज गाने लायक नहीं थी। स्वामीजी की आवाज असामान्य थी। रंगमंच के मोरराव कोल्हटकरजी के समान उनकी आवाज तेज थी, पर स्वामीजी की तर्ज मन्द-सप्तक के खर्ज षड़ज तक नीचे जाती थी। भारत के महान् गायकों को मैंने देखा और सुना है, पर आवाज का यह जादू मैंने किसी में नहीं पाया। स्वामीजी की संगीत-साधना का एक और विशेष गुण था। तबला-वादन भी वे उतने ही कौशल से करते थे। आधुनिक तबलानवाज उनके सामने बालक प्रतीत होते थे। उस काल में बंगाल 'रवीन्द्र-संगीत' के प्रसार से वंचित था। खयाल, ध्रुपद और ठुमरी गायन का बंगाल में विशेष प्रभाव था, खासकर टप्पागायन बंगाल का प्रमुख गायन समझा जाता था। भजन भी अधिकांशत: भगवान् रामचन्द्र की स्तुति में ही गाये जाते थे। 'आमि की दुखेरे डराई, (तवे) दुख दाओ माँ आर कतो चाई'—रामप्रसाद का यह भजन स्वामीजी का बहुत ही प्यारा भजन था। तड़के ही सब सन्यासी ध्यानस्थ होकर बैठ जाते थे। मैं भी उनके साथ बैठ जाया करता था, पर ध्यानस्थ होने के बजाय मैं स्वामीजी की मनलुभावन ध्यानस्थ मूर्ति की ओर देखना ज्यादा पसन्द करता था। स्वामीजी लगभग दो घण्टे तक ध्यानस्थ होकर बैठते थे। जब तक स्वामीजी का ध्यान न टूटता, तब तक अन्य

संन्यासी भी ध्यानस्थ बैठे रहते थे।

"ध्यान-धारणा की इस वृत्ति से मुझे अचरज जरूर होता था, पर उसमें मेरे हृदय को खींचने की ताकत नहीं थी। मैं अपनी समस्या सुलझाने हेतु अधीर हो चुका था। पर स्वामीजी से अकेले में मिलने का मौका अब तक नहीं मिला था। एक दिन की बात है। ध्यान टूटने के बाद स्वामीजी अकेले ही बाहर चल पड़े। मैं भी उनके पीछे हो लिया। आहिस्ता चलने पर भी स्वामीजी को मेरे अस्तित्व का पता चल गया। वे चलते-चलते रुके और पीछे मुड़कर मेरे पास आ गये। ममता से मेरी पीठ पर हाथ रखकर सहलाते हुए अँगरेजी में उन्होंने पूछा, 'Well my boy, what do you want ?' (कहो मेरे भाई! क्या चाहते हो?) मैंने अपने हृदय की चाह व्यक्त की। संन्यासी होने की मेरी महत्त्वाकांक्षा थी। शिकागो में भरे विश्व-धर्म-सम्मेलन के बयान मैंने अखबारों में पढ़े थे, तभी से मेरे हृदय में स्वामीजी के दर्शन करने की तीव्र अभिलाषा जाग उठी थी। मैं उनसे मिलने के लिए तड़प रहा था। और आज संयोगवश मौका मिला था। मैंने शीश झुकाकर स्वामीजी के चरण छू लिये और दीक्षा की याचना की। स्वामीजी एक पेड़ के सहारे बैठ गये और मैं भी उनके चरणों के पास बैठ गया। उन्होंने मेरे बारे में पूरी जानकारी हासिल की। मैं शादीशुदा हूँ यह जानकर मेरे मस्तक पर हाथ रखकर वे बोले, 'मासूम बच्चे! संन्यास का सौभाग्य तो था, पर तेरे भाग्य में वह बदा नहीं। तेरी शादी हो चुकी है, अब तू संन्यासी नहीं हो सकता।'

"मैं एकदम आसमान से धरती पर गिर पड़ा। मन की अभिलाषा चकनाचूर हो चुकी थी। मैं फूट-फूटकर रोने लगा, तब स्वामीजी ने मुझे गले लगा लिया और सान्त्वना देते हुए बोले, 'तेरे भाग्य में संन्यासी होना ही बदा है। अपनी जवानी में तुझे संन्यासावस्था प्राप्त होगी। तेरे हाथों से महान् कार्य होना है, यह मैं साफ देख रहा हूँ। अब तू अपने घर जा और नौकरी कर, पर यह नौकरी तेरे लिए नहीं है। तू मुक्त है, स्वतंत्र है। मैं काश्मीर जा रहा हूँ। वहाँ से वापस आकर विदेश-यात्रा पर जाऊँगा। विदेश से लौटने पर कलकत्ते में मुझे फिर मिलना। भूलना नहीं। भूलेगा तो पछताएगा।'

"मैं निराश होकर लौट आया।

"सन् १९०१ के अन्त में मैं फिर बेलुड़ मठ की ओर चल पड़ा। पिताजी का देहान्त हो चुका था। संन्यासी होने की चाह फिर से प्रबल हो उठी थी। मैं जब बेलुड़ पहुँचा, उस समय स्वामीजी संथाल मजदूरों के साथ बाचतीत कर रहे थे। ये मजदूर अछूत थे, पर शादीशुदा होने पर हमारा परोसा खाना नहीं खाते थे। हमारे छूने से नमक भी निषिद्ध हो जाता था। तब दही और अन्य चीजें बगैर नमक की खुद अपने हाथों से तैयार करके स्वामीजी ने उन्हें खिलायीं। आग्रहपूर्वक परोसते-परोसते वे कहने लगे—'आज नारायण ने प्रत्यक्ष आकर मेरा नैवेद्य ग्रहण किया।' मठ के संन्यासियों को उपदेशात्मक भाषण देते हुए स्वामीजी ने भजन-पूजन छोड़कर दरिद्रनारायण की सेवा करने का आदेश दिया। भगवान् के ये पूत

हमारी छुआछूत का शिकार बनकर हमसे बिछुड़ गये हैं। इन्हें अपनाकर इनकी सेवा करने का आदेश भी स्वामीजी दिया ने ।

"उस समय स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। मैंने फिर से अपने हृदय की चाह उनके सामने रखी । तब वे बोले, 'भैया ! इस रामकृष्ण आश्रम को अपना घर समझो। संन्यासी बनने की कोई आवश्यकता नहीं । राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) तुम्हें मंत्र-दीक्षा देंगे। उसे ही संन्यास समझो। आज मैंने जी० सी० को बुलवा भेजा है।' ख्यातिप्राप्त अभिनेता तथा नाटककार श्री गिरीशचन्द्र घोष को वे जी० सी० कहकर सम्बोधित करते थे। गिरीशचन्द्रजी के आगमन पर उन्होंन मुझे भी बुला लिया। स्वामीजी ने उनसे कहा, 'इसे अपना ही बच्चा समझकर अपना लो। तुम्हारी परम्परा अब यही आगे चलाएगा। इस बच्चे का जन्म ही इसलिए हुआ है कि वह तुम्हारी परम्परा को अखण्डित रखे । मैं इसे तुम्हारे सुपुर्द करता हूँ। इसे अपना वारिस बनाओ।' गिरीशबाबू ने मुझे अपना पुत्र समझकर मेरा पालन-पोषण किया ।

"स्वामीजी का स्वास्थ्य काफी बिगड़ चुका था। खुद अपने बारे में स्वामीजी निराश हो रहे थे। उनके एक उपदेश का आजकल की परिस्थिति के सन्दर्भ में स्मरण होता है। उन्होंने कहा था कि करताल पीटने से क्या लाभ है? झाँझ-मृदंग बजाकर नाचने से देश दरिद्र हो रहा है। हर गाँव में करताल-मृदंग की झंकार ही हमें सुनाई देती है। बचपन से ही जनाना

सुर सुनकर यह जनखों का देश बन रहा है। इससे ज्यादा पतन और क्या हो सकता है? अब हमें रणभेरी, रणसिंगा, डमरू बजाना चाहिए। रुद्रताल पर दुन्दुभि-रव करना अब आवश्यक है। 'हर-हर महादेव' की गर्जना से हमें गगनभेदी स्वरनाद करना है। हम जो गीत और वाद्यों से, कोमल भावना से स्वर कम्पित करते हैं, उसे निकाल बाहर करना जरूरी है। टप्पा, ठुमरी बन्द कर दो और ध्रुपद-धमार की स्वर-लहरियाँ जनता के कानों में सुनाओ। वैदिक मंत्रों की मेघों की सी गड़गड़ाहट में प्राणों की आहुति देकर अब तो चहुँ ओर वीरता की कठोर महिमा दुनियाँ में फैलानी होगी।

"स्वामीजी के स्वर्गवास को साठ से अधिक वर्ष बीत चुके, पर अब भी वीरता के जाज्वल्य तेजोबल से देदीप्यमान उनकी मूर्ति मेरे अन्तःपटल पर अंकित है। उनकी वैदिक घोषणा कानों में अब तक गूंज रही है—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। और हम नतमस्तक हो जाते हैं।"

० ० ०

ये तो हुए उनके संस्मरण। अब हम उनके साहित्य पर स्वामीजी के प्रभाव के विषय पर आते हैं। मामा वरेरकर की समग्र रचनाओं पर स्वामीजी का प्रभाव अलग से ही एक गहन शोध का विषय हो सकता है, अतः यहाँ पर हम उनके केवल नाटक 'संन्यासाचा संसार' (संन्यासी का संसार) पर ही थोड़ी सी चर्चा करेंगे, क्योंकि एक स्थान पर उन्होंने

स्वयं ही लिखा है, "स्वामीजी का जो थोड़ा सा सान्निध्य मुझे प्राप्त हुआ था, उस समय उनके साथ हुई चर्चा का उपयोग मैंने यह नाटक लिखते समय किया था। वे परधर्मद्वेषी नहीं थे, तथापि स्वधर्माभिमानी थे। उन्हीं की स्तुति-गान के साथ मैंने नाटक का श्रीगणेश किया था। संयोगवश इस भूमिका को करनेवाले अभिनेता का भी स्वामीजी से सादृश्य था।"

जिस स्तुति के साथ उन्होंने आलोच्य नाटक की शुरुआत की थी, उसका भावानुवाद इस प्रकार है——

"जय जय नरसुन्दर नरेन्द्र गुरुवर
धर्म-धरा के क्षितिज पटल पर
तुम सस्वांशु उदित कर।
स्वधर्माभिमानी, विधर्म सम मानी
तुमने फैलाया, हे सुधीर
जग में समता का नवचेतन
(जय जय जगजीवन)॥
कवियुग में तुम
रवि उदित हुए
खलजन की मति का किया दमन।
जो शिव इस जग से उदासीन
तन्मय रहते हरि ध्यान धरे,
वे ही करके नरवपु धारण
जग में आये, रहकर विचरे
पूरब पश्चिम को मिला दिया
विस्तार किया समरस जीवन॥"

इस नाटक के प्रधान पात्र दक्षिण भारत के एक शंकराचार्य हैं, जो भारत की प्राचीन संन्यास-परम्परा के

प्रतिनिधि हैं। एक बंगाली संन्यासी के विचारों के प्रभाव में आकर धर्म और जीवन के प्रति उनके विचार में परिवर्तन आता है। वे (स्वामी विवेकानन्द प्रवर्तित) सेवाधर्म को अर्वाचीन संन्यासी के कर्तव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वामीजी ने बारम्बार कहा है कि हमारे प्रेम और सहानुभूति के अभाव में ही हमारे निर्धन और उपेक्षित हिन्दू भाई स्वधर्म त्यागकर परधर्मावलम्बी हो रहे हैं; स्नेह, सेवा और साम्यभाव के द्वारा उन्हें विधर्मी होने से रोकना होगा, तथा जो लोग हमें छोड़ गये हैं उन्हें पुनः वापस लाकर हिन्दू समाज में स्थान देना होगा। स्वामीजी का यही भाव इस नाटक का मूल विषय है।

वरेरकर की स्मृतिकथा में हमने देखा कि वे जिस दिन बेलुड़ मठ पहुँचे, उस दिन स्वामीजी संथाल आदिवासियों को नारायण-ज्ञान से भोजन करा रहे थे। शरत्‌चन्द्र चक्रवर्ती ने अपने 'विवेकानन्दजी के संग में' नामक ग्रन्थ में स्वामीजी के उस दिन के वार्तालाप का विस्तृत विवरण दिया है। वहाँ हम देखते हैं कि देश में सर्वव्यापी दुःख-दारिद्र्य के साम्राज्य पर विगलित होकर स्वामीजी ने कहा था—"परहित के लिए सर्वस्व अर्पण——इसी का नाम वास्तविक संन्यास है। इन्हें कभी अच्छी चीजें खाने को नहीं मिलीं। मन में आता है—मठ आदि सब बेच दूँ, इन सब गरीब-दुःखी, दरिद्र-नारायणों में बाँट दूँ। हमने वृक्ष-तल को ही तो आश्रय-स्थान बना रखा है।" तदुपरान्त वे बोले, "यह देखो न, हिन्दुओं की सहानुभूति न पाकर मद्रास प्रान्त में हजारों परिया ईसाई बने जा रहे हैं, पर ऐसा न समझना कि केवल पेट के लिए वे ईसाई बनते हैं। असल में हमारी सहानुभूति न पाने के कारण वे ईसाई

बनते हैं । हम दिन-रात उनसे केवल यही कहते रहे हैं, 'छुओ मत, छुओ मत' ।"

'संन्यासी का संसार' नाटक में लेखक ने इसी भाव को शंकराचार्य के मुख से व्यक्त कराया है । इस विषय में वरेरकर ने स्वयं ही अन्यत्र लिखा है, "इस भूमिका के पीछे मेरी मूल कल्पना यह थी कि स्वामी विवेकानन्द यदि शंकराचार्य बन जाते तो कैसे दिखते ।"

अब हम मूल नाटक से कुछ प्रासंगिक कथोपकथन उद्धृत करते हैं—

(दक्षिण भारत के उक्त अंचल में बाढ़ का भयानक प्रकोप आया हुआ है । असंख्य गरीब लोग बहे जा रहे हैं । ईसाई मिशनरी उन्हें सहायता पहुँचाकर धर्मान्तरित करने का प्रयास कर रहे हैं । शंकर मठ के एक अधिकारी सुब्रह्मण्य आकर श्री शंकराचार्य को यह सूचना देकर प्रश्न करते हैं—)

सुब्रह्मण्य—तो फिर आज हमें क्या करना चाहिए ?

श्री (शंकराचार्य)—जाओ ! बाढ़ में डूब रहे गरीबों को बचाओ । दरिद्रों और धनिकों का गला दबाकर पादपूजा के लिए जो धन एकत्र किया गया है, जाओ, उसे ले जाकर अनाथों को अन्न देने में खर्च करो । शंकराचार्य की तिजोरी को भी संन्यास दे दो ।

सुब्रह्मण्य—तिजोरी खाली कर देने से भी हम मिशनरी लोगों का सामना नहीं कर सकेंगे ।

श्री—तो फिर ऐसा करो, यह मुकुट बेच डालो । चौंकते क्यों हो ? यह मुकुट और यह महावस्त्र बेच दो । (उतारकर रख देते हैं) देखो, अब मैं एक कालेज स्टूडेण्ट

जैसा दिखता हूँ न! यह चाँदी की खड़ाऊँ बेचो, यह सिंहासन बेचो, हाथी बेचो, हौदा बेचो, घोड़े और उनकी सज्जा बेचो, पताका की जरी बेचो। इतना ही क्यों—पूजा के सोने-चाँदी के बर्तन बेचो, मन्दिर की सोने-चाँदी की प्रतिमाएं बेचो। अब से इस मठ की पूजा में वाणेश्वर और शारदाम्बा की मूर्ति के अलावा सोने का एक भी कण अथवा जरी का एक धागा तक नहीं रहेगा। इतने से भी यदि पैसा पूरा न पड़े तो इस मठ को गिराकर इसके संगमर्मर का हर पत्थर बेच डालो। जब बाहर इतने अपंग, अनाथ और भूखे मरे जा रहे हैं, तब इन संगमर्मर के पत्थरों को गले बाँधकर कौन शंकराचार्य स्वर्ग में जा सकते हैं?

× × ×

शंकराचार्य की इन उक्तियों में स्वामीजी की ही भावछाया प्रतिबिम्बित हुई है। नाट्यकार ने अपनी साहित्यिक आत्मकथा में यह भी लिखा—"शंकराचार्य के वैभवत्याग के बाद की पोशाक विवेकानन्द के जैसी बनवाने की मेरी योजना थी। इसके लिए मैं कलकत्ता गया। वहाँ बेलुड़ मठ में रखी हुई स्वामीजी की पोशाक का माप लेकर बंगाली दर्जियों से सिलवाकर उसे ले आया था। वही पोशाक मेरे मनमाफिक हुई थी।"

इस नाटक के अन्तिम पृष्ठों में हम देखते हैं कि श्री शंकराचार्य ने सेवा-कार्य को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिए 'शंकर मिशन' की स्थापना कर ली है। यह समाचार पाते ही बम्बई के सर्वधर्म के अनेक धनिकों ने तार भेजकर पीड़ित जनता की सेवा हेतु लाखों रुपये दान करने का प्रस्ताव रखा है। 'शंकर मठ' का आमूल परिवर्तन हो गया

है और वहाँ का सिंहासन आदि सारा ऐश्वर्य हटाकर, साडम्बर पूजा की जगह निराकार-पूजा तथा सेवा की प्रथा प्रारम्भ हुई है। हजारों धर्मान्तरित ईसाई पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार करने की इच्छा से मठ में आवेदन करते हैं।

अन्त में श्री शंकराचार्य कहते हैं—"देवदत्त ! यदि मैं संसारी हो जाता तो अपनी कुटुम्ब-वत्सलता के कारण विश्व के इस अनन्त विस्तार से विच्छिन्न हो जाता। पर देखो, आज मेरा संसार कितना विराट् हो गया है। क्या मेरा यह 'संन्यासी का संसार' विषयी लोगों के 'संकुचित प्रेममय संसार' को लज्जित नहीं करेगा?"

उपर्युक्त पंक्तियों में हम देखते हैं कि स्वामीजी द्वारा रामकृष्ण मठ और मिशन की स्थापना तथा उनके विश्व-व्यापी प्रेम की ही बात अन्य रूप में कही गयी है।

२५ सितम्बर १९१९ ई०, बृहस्पतिवार की रात को बम्बई के विक्टोरिया थियेटर में ललितकलादर्श नाटक मण्डली के तत्त्वावधान में इस नाटक का प्रथम मंचन हुआ। लोकमान्य तिलक संयोगवश उन दिनों बम्बई में ही थे। आमन्त्रित होकर अपने सहयोगियों के साथ वे उस दिन का नाटक देखने आये। अभिनेताओं ने एक एक कर उन्हें प्रणाम करने के पश्चात् मंच पर प्रवेश किया। नाटक का तीसरा अंक प्रारम्भ होने के पूर्व लोकमान्य का एक छोटा-सा भाषण भी हुआ। कोई डेढ़-दो सौ लोग निमन्त्रण पाकर आये थे, तथापि साढ़े आठ सौ रुपयों के टिकट बिके। यह पूरी रकम लोकमान्य तिलक के हाथों पूना के अनाथ विद्यार्थी गृह को दानस्वरूप दे दी गयी। रामकृष्ण नरहर वझे ने इस नाटक के लिए संगीत-रचना की थी, जिन्हें

स्वयं भी स्वामीजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य हुआ था और जिन्होंने स्वामीजी को अपने संगीत के आचार्यों में एक माना था।

इस प्रकार कुल मिलाकर यह नाटक मामा वरेरकर की स्वामीजी के प्रति एक उपयुक्त श्रद्धांजलि कही जा सकती है।

○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) परपीड़ा सम नहिं अधमाई

एक बार तेलंगस्वामी को तंग करने के इरादे से एक व्यक्ति ने दूध के बदले चूना घोलकर एक पात्र में रख दिया। स्वामीजी ने पात्र की ओर देखा और घोल को चुपचाप पी लिया। वह व्यक्ति सोचने लगा कि शीघ्र ही अब चूना असर करेगा। मगर यह देख वह हैरान रह गया कि उन पर तो कोई असर हुआ नहीं, बल्कि उसका ही जी घबराने लगा और वह मारे दर्द के तड़पने लगा। वह समझ गया कि स्वामीजी को तंग करने का ही यह दुष्परिणाम है। वह तुरन्त उनके चरणों पर गिर पड़ा और उसने इस कष्ट से उबारने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने समीप रखी स्लेट पर खड़िया से लिखा, "चूने का पानी मैंने पिया और इसका परिणाम तुझे भोगना पड़ा। इसका एकमेव कारण यही है कि हम दोनों के शरीर में एक ही आत्मा का वास है। यदि दूसरे की आत्मा को कष्ट दिया जाए तो वह कष्ट स्वयं की आत्मा को भोगना पड़ता है। इसलिए आगे कभी भी दूसरों को कष्ट देने की चेष्टा न करना।" और उन्होंने उस व्यक्ति के सिर पर प्यार से हाथ रखा। उनके स्पर्श मात्र से उसका दर्द जाता रहा। उसने स्वामीजी से माफी माँगी और कहा कि अब वह कभी भी किसी को तंग नहीं करेगा।

(२) तुलसी तहाँ न जाइए कंचन बरसे मेह

गौड़ देश के बर्दवान नामक शहर में एक अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण रहता था। दरिद्रता से परेशान उस ब्राह्मण ने कठोर व्रत किया। भगवान् आशुतोष ने स्वप्न में दर्शन

देकर उससे कहा, "वृन्दावन में सनातन गोस्वामी के पास जाकर उनसे पारस पत्थर की माँग करो, तुम्हारा सारा दारिद्र्य जाता रहेगा।"

वृन्दावन जाकर ब्राह्मण ने गोस्वामीजी की पूछताछ की, तो लोगों ने कौपीनधारी गुड़गुडी धारण किये एक कृशकाय व्यक्ति की ओर इशारा किया। उन्हें इस रूप में देख वह विस्मित रह गया, सोचने लगा—पारसमणि और वह भी इस कंगाल व्यक्ति के पास! वह उनके पास गया और उन्हें प्रणाम किया। आने का प्रयोजन पूछने पर उसने बताया, "निर्धनता के कारण मेरा जीना दूभर हो गया है। इस स्थिति से उबरने के लिए मैं आपके पास पारस पत्थर की याचना लिये आया हूँ, जिससे अपनी दरिद्रता मिटा सकूँ।"

स्वामीजी ने कहा, "पारस को रखकर मैं अकिंचन क्या करूँगा। हाँ, एक दिन जब मैं यमुना में स्नान करके वापस आ रहा था, तब एक पत्थर से टकरा गया, देखा तो मुझे कोई अलौकिक पत्थर जान पड़ा। इस पत्थर का पुनः कभी स्पर्श न हो, इस इरादे से मैंने उसे वहीं रेत की एक ढेरी के नीचे ढँक दिया और पुनः स्नान करके वापस लौट आया। तुम यदि उसे चाहते हो तो उसे निकाल लो।"

ब्राह्मण तो उसे प्राप्त करने के इरादे से ही आया था। वह नदी के किनारे गया और ढेरी के नीचे उसे वह पत्थर दिखाई दिया। दूरदर्शी तो था ही, साथ में लोहे के टुकड़े भी लेता गया था। ज्योंही उन्हें पत्थर का स्पर्श कराया, वे स्वर्ण में बदल गये। इतने सारे स्वर्ण के टुकड़े अपने अधिकार में देख उसका चित्त स्थिर न रहा, सोचने लगा, "वस्तुतः इन टुकड़ों का अधिकारी वह स्वयं नहीं, गोसाईंजी हैं। मगर वे तो इनसे दूर ही रहना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने

पारस के स्पर्श मात्र से पुनः स्नान किया। इसका अर्थ यही है कि उनके लिए यह दुर्लभ वस्तु तुच्छ है। उनके पास इससे भी अधिक मूल्यवान् वस्तु विद्यमान है और इसी कारण उन्होंने इसे अपनी आँखों से ओझल करना उचित समझा। तब मैं भी इससे दूर रहकर उस अमूल्य वस्तु को क्यों न प्राप्त करूँ।" उसने वह पारस पुनः ढेरी के नीचे छिपा दिया और स्वर्ण के टुकड़ों को नदी में फेंक स्नान करके स्वामीजी के पास लौट आया। ज्योंही उसने पारस पत्थर और स्वर्ण के टुकड़ों को फेंका था, उसका चित्त शुद्ध हो गया था। उसके मन में लोभ का लेशमात्र भी न था। चरण-स्पर्श करके उसने स्वामीजी से दीक्षा-ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने उसे कृष्ण भगवान् के नाम का जाप करने का मंत्र दिया और बताया कि इसमें कोटि-कोटि पारस पत्थर को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है और यह मंत्र उसके जीवन को सार्थक बना दे सकता है।

(३) लोभमूलानि पापानि

'महाभाष्य' के टीकाकार एवं संस्कृत के उद्भट विद्वान् कैयटजी नगर के कोलाहल से दूर निर्जन स्थान पर एक कुटिया में वास करते। एक कमण्डलु और चटाई ही उनकी सम्पत्ति थी। गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए वे अपना सारा समय सन्ध्या, पूजा और अध्ययन में व्यतीत करते। उनकी पत्नी वन से मूँज काटकर ले आती और रस्सी बनाती, जिसे बेचकर प्राप्त रकम से घर का काम चलाती। उसके पति ने किसी से भी दान के रूप में कुछ भी स्वीकार न करने का उसे स्पष्ट आदेश दे रखा था।

एक बार काशी के कुछ विद्वान् काश्मीर आये। उन्होंने जब कैयटजी की यह अवस्था देखी, तो उन्हें बड़ा

दुःख हुआ। काश्मीर-नरेश के पास जाकर उन्होंने कैयटजी के निर्वाह की यथोचित व्यवस्था करने का निवेदन किया। नरेश ने उन्हें बताया कि विद्वान् पुरुष बड़े ही स्वाभिमानी और स्वावलम्बी होते हैं और परायी वस्तु को स्वीकार नहीं करते। यदि वे लोग उन्हें मना सकें, तो वे उनकी मदद करने में स्वयं को धन्य समझेंगे। और उन्होंने पर्याप्त भूमि और धन का दानपत्र लिखकर ब्राह्मणों को देकर कैयटजी के पास भिजवाया।

जैसी कि आशंका थी, कैयटजी दानपत्र देख कुपित हो गये। उन्होंने कमण्डलु और चटाई उठायी और पत्नी से कहा, "यहाँ का राजा हमें धन का लालच देना चाहता है, इस कारण इस स्थल पर हम एक क्षण भी रुक नहीं सकते।" ब्राह्मणों ने जो सुना, तो उन्होंने कैयटजी से क्षमा माँगी। नरेश भी ब्राह्मण-वेश धारणकर उनके साथ आये थे। उन्होंने अपना परिचय देकर कहा, "स्वामीजी, मैंने इन ब्राह्मणों को रोका था, लेकिन आपके प्रति इनकी अतीव श्रद्धा देख मैं स्वयं को रोक न सका। मैं लज्जित हूँ और इसके प्रायश्चित्त रूप में यदि आप मेरी सेवा ग्रहण करें, तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा।" कैयटजी ने राजा से कहा, "यदि तुम सचमुच मेरी सेवा करना चाहते हो, तो कृपा कर इस स्थान पर पुनः कभी न आना और अपने धन या भूमि का प्रलोभन देने की फिर कभी चेष्टा न करना। मेरे अध्ययन में कोई विघ्न न पड़े, इसका ही यदि ध्यान रख सको, तो तुम्हारे लिए यही करना उचित होगा।"

(४) निज प्रभुमय देखहिं जगत

श्री व्यासराम स्वामी के अनेक शिष्य थे, जिनमें

कनकदास भी एक थे। निम्न जाति के होकर भी उनके प्रति गुरु का अपार प्रेम देख अन्य शिष्य उनसे जला करते। एक बार स्वामीजी ने एकादशी के व्रत के दिन सारे शिष्यों को एक-एक केला देते हुए कहा कि वे उसे ऐसी जगह खाएँ, जहाँ कोई देख न सके। सभी ने निर्जन और एकान्त स्थान में जाकर केला खाया।

एक घण्टे बाद स्वामीजी ने शिष्यों को बुलाकर पूछा कि सबने केला खा लिया है या कोई भूखा भी है। प्रत्येक ने कहा कि उसने एकान्त स्थान को ढूँढ़कर खाया है, और उसे किसी ने भी खाते नहीं देखा है। कनकदास से पूछने पर उसने डरते, शरमाते उत्तर दिया, "गुरुजी, मुझे ऐसी कोई जगह नहीं दिखाई दी, जहाँ कोई न हो। हर जगह मुझे भगवान् का वास होने के कारण ऐसा लगता कि वे देख रहे हैं, इस कारण मैं खा नहीं पाया।"

स्वामीजी खुश हुए, क्योंकि उन्होंने ही कुछ दिनों पूर्व बताया था कि भगवान् सर्वत्र विद्यमान हैं एवं सबके अच्छे-बुरे कर्मों की ओर उनकी दृष्टि रहती है। उन्होंने शिष्यों से कहा, "कनक तुम सबमें इसी कारण अलग है कि वह दिये हुए उपदेशों को आचरण में लाता है। इसलिए अब कभी भी उसके प्रति कोई द्वेष भाव न रखे।"

(५) हरि को भजै सो हरि का होई

सन्त सदन का पेशा था तो कसाई का, लेकिन जीव-हिंसा से वे द्रवित हो उठते थे। आजीविका का कोई अन्य उपाय न होने से वे दूसरे कसाइयों से मांस खरीदकर बेचा करते। बचपन से ही भगवन्नाम एवं हरिकीर्तन में रुचि होने से सदा लीलामय पुरुषोत्तम के नाम-जप, गुणगान और चिन्तन में लगे रहते। मांस तौलते समय बाट रूप में जिस

पत्थर का प्रयोग करते, वस्तुतः वह भगवान् शालिग्राम थे, जिससे वे अनभिज्ञ थे। बाट समझकर उसी से वे मांस तौला करते।

एक दिन एक साधु उनकी दुकान के सामने से जा रहा था कि उसकी नजर तराजू में रखे शालिग्राम पर पड़ी। मांसविक्रेता के यहाँ भगवान् को देख उन्हें क्रोध आया। उन्होंने सदन से उसे माँगकर एवं उसकी विधिपूर्वक पूजा कर अपने पूजाघर में रख दिया। मगर भगवान् तो प्रेम के भूखे होते हैं, मंत्र या विधि की वे जरा भी अपेक्षा नहीं करते। रात को भगवान ने उससे स्वप्न में कहा, "सदन के के यहाँ मुझे बड़ा सुख मिलता था, वहाँ से उठाकर तुम मुझे यहाँ क्यों ले आये? मांस तौलते समय उसका स्पर्श पाकर मैं बड़े ही आनन्द का अनुभव करता था। उसके मुख से निकले शब्द मुझे स्तोत्ररूपी मधुर शब्द जान पड़ते थे। मेरे सामने जब वह भजन-कीर्तन करता, तो आनन्द से मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता था। मुझे यहाँ लाने से मैं घुटन महसूस कर रहा हूँ। अच्छा होता तुम मुझे वहीं पहुँचा देते।"

साधु महाराज जब जागे, तो तुरन्त शालिग्राम को प्रणाम कर सदन को दे आये और बताया कि यह कोई बाट या पत्थर नहीं, बल्कि साक्षात् शालिग्राम भगवान् हैं। यह सुन सदन को पश्चात्ताप हुआ। मन ही मन बोले, "मैं भी कितना पापी हूँ कि भगवान् को अब तक अपवित्र स्थल पर रखता रहा।" अब उन्हें अपने व्यवसाय से भी घृणा हो गयी। शालिग्राम को लेकर वे पुरी की ओर रवाना हो गये।

○

श्रीरामकृष्ण-शिष्य 'छोटा नरेन्द्र'

स्वामी विमलात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण मठ, बेलुड़ मठ के अन्तेवासी हैं। उनका प्रस्तुत लेख 'उद्‌बोधन' बँगला मासिक से 'साभार' गृहीत और अनूदित हुआ है। अनुवादक ब्रह्मचारी रामेश्वर भी बेलुड़ मठ के अन्तेवासी हैं।—स०)

श्रीरामकृष्ण के शिष्य 'छोटा नरेन्द्र' का पूरा नाम नरेन्द्रनाथ मित्र था। श्रीरामकृष्ण प्यार से उन्हें 'छोटो नरेन' कहकर पुकारते थे। उनका घर बागबाजार (कलकत्ता) के तेलीटोले में था। बहुत कम उम्र में ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण का दर्शन-लाभ किया था। वे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा प्रतिष्ठित श्यामबाजार विद्यालय के छात्र थे। श्री'म' उस विद्यालय के प्रधानाध्यापक थे। वे ईश्वरानुरागी लड़कों को श्रीरामकृष्ण के पास दक्षिणेश्वर ले आते थे। इस प्रकार वे तेजचन्द्र, नारायण, विनोद, छोटा नरेन्द्र, पल्टू आदि लड़कों को श्रीरामकृष्ण के आश्रय में लाये थे। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' में श्रीरामकृष्ण के साथ 'छोटा नरेन्द्र' के प्रथम दर्शन की तिथि ७ मार्च, १८८५ ई० दी गयी है। 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' के लेखक श्री 'म' लिखते हैं, "...१८८५ ई० के अन्तराल में सुबोध, छोटा नरेन्द्र, पल्टू, पूर्ण, नारायण, तेजचन्द्र, हरिपद आये।"

श्रीरामकृष्ण अधिकारी-भेद से भक्तों को विविध तरीकों से दीक्षित करते थे। जब कोई भक्त उनके पास आता, तो उसी समय अथवा कुछ देर बाद वे उसे एकान्त में बुलाकर ध्यान करने के लिए कहा करते। वे उसकी छाती, जीभ या शरीर के अन्य किसी अंग का दिव्यावेश

में स्पर्श करते। 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग' के लेखक लिखते हैं, "उस शक्तिपूर्ण स्पर्श से उन भक्तों का मन बाहरी विषयों से आंशिक अथवा पूर्णतया उपसंहृत होकर अन्तर्मुखी हो जाता था और उनके संचित धर्मसंस्कार अन्तर में सहसा सजीव होकर सत्यस्वरूप ईश्वर के दर्शन-लाभ के लिए उन्हें विशेष रूप से नियुक्त कर देते थे। फलस्वरूप उसके प्रभाव से किसी में दिव्य-ज्योति या देव-देवियों की ज्योतिर्मय मूर्तियों का दर्शन, किसी में गम्भीर ध्यान और अपूर्व आनन्द, किसी में हृदय-ग्रन्थियों के एकाएक खुल जाने से ईश्वर-लाभ के लिए प्रबल व्याकुलता, किसी में भावावेश और सविकल्प समाधि या किसी विरले साधक में निर्विकल्प समाधि का पूर्वाभास आ उपस्थित होता था। उनके पास आकर इस प्रकार ज्योतिर्मय मूर्ति आदि का दर्शन कितने व्यक्तियों को हुआ था, सीमा नहीं है। . . .छोटा नरेन्द्र उसके प्रभाव से स्वल्पकाल में ही निराकार के ध्यान में समाधिस्थ हो गया था। यह बात ठाकुर के श्रीमुख से हमने सुनी थी।"[१]

श्रीरामकृष्ण छोटा नरेन्द्र को बेहद प्यार करते थे। उनके शुद्ध आधार होने की बात सबों से कहा करते थे। एक दिन बलराम मन्दिर में उन्होंने मास्टर महाशय से कहा था, "क्यों जी, छोटा नरेन्द्र आया-जाया करता है, घरवाले क्या कुछ कहेंगे? बिल्कुल शुद्ध है, स्त्री-संग कभी नहीं किया।"

मास्टर—और उच्च आधार है।

श्रीरामकृष्ण ने फिर कहा, "हाँ, और कहता है,

१. 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग', तृतीय खण्ड, पृ. १८७।

ईश्वरी बातें एक बार सुन लेने से मुझे याद रहती हैं। कहता है बचपन में मैं रोया करता था, ईश्वर दर्शन नहीं दे रहे हैं इसलिए।"[२]

श्यामपुकुर में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने छोटा नरेन्द्र की ओर देखकर डा० महेन्द्रलाल सरकार से कहा था, "यह बहुत ही शुद्ध है। इसमें विषय-बुद्धि छू भी नहीं गयी है।" उस दिन श्यामपुकुर में रामतारण का गान हुआ था— (१) 'दीनतारिणी दुरितहारिणी, सत्त्वरजस्तम त्रिगुणधारिणी', (२) 'धरम करम सकलि गैलो, श्यामा-पूजा बुझि होलो ना'। गाना सुनते-सुनते श्रीरामकृष्ण को भावावेश हुआ था। साथ-साथ कई भक्तों को भी भावावेश हुआ था। छोटा नरेन्द्र को भी भावावेश हुआ था। वही देखकर श्रीरामकृष्ण ने डा० सरकार से यह बात कही थी। श्रीरामकृष्ण की बात सुनकर डाक्टर छोटा नरेन्द्र की ओर एकदृष्टि से देखते रहे।

श्रीरामकृष्ण के साथ छोटा नरेन्द्र का ऐसा मिलना-जुलना उनके परिवार के लोग पसन्द नहीं करते थे। अतः वे लोग उन्हें इसमें येन-केन-प्रकारेण बाधा देते थे। इसलिए वे श्रीरामकृष्ण के पास दक्षिणेश्वर अधिक नहीं आ पाते थे। किन्तु श्रीरामकृष्ण अपने शुद्धात्मा भक्तों को देखने के लिए स्वयं अपने भक्तों के घर कलकत्ता जाया करते थे। बलराम बसु अथवा रामचन्द्र दत्त आदि प्रमुख भक्तों के घर आते ही वे अपने सभी शुद्धात्मा भक्तों को बुला भेजते। वहीं उनका मिलन होता। एक बार श्रीरामकृष्ण कप्तान के घर कलकत्ता गये थे। (कप्तान का नाम विश्वनाथ

२. 'श्रीरामकृष्णवचनामृत', तृतीय भाग, पृ. ६६।

उपाध्याय था, वे नेपाल राजदरबार में नौकरी करते थे।) वहाँ श्रीरामकृष्ण ने छोटा नरेन्द्र को बुलवाया था। बाद में श्रीरामकृष्ण ने इस सम्बन्ध में कहा था, "कप्तान के घर छोटा नरेन्द्र को मैंने बुलाया। पूछा, 'तेरा घर कहाँ है?—चल चलें।' उसने कहा, 'चलिए'। परन्तु डरता हुआ साथ जा रहा था, ताकि कहीं बाप को खबर न लग जाय।"[३]

एक बार श्रीरामकृष्ण बलराम के घर गये थे। छोटा नरेन्द्र आदि भक्तगण उपस्थित थे। बातचीत के बाद छोटा नरेन्द्र विदा ले रहे थे। श्रीरामकृष्ण जानते थे कि छोटा नरेन्द्र के घर के लोग, विशेषकर उनके माता-पिता, यह पसन्द नहीं करते कि छोटा नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण के पास आना-जाना करे। इसीलिए श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "तू अपने माँ-बाप पर खूब भक्ति किया कर। परन्तु वे यदि ईश्वर के मार्ग में रोड़े अटकावें, तो उनकी बातें न मानना। खूब दृढ़ता रखना। वह बाप नहीं साला है, अगर ईश्वर के मार्ग में विघ्न खड़ा करता है।"[४]

वे अन्यान्य भक्तों से भी कहा करते—भगवान् के लिए माँ-बाप की बात न मानना। तभी तो बाधा के बावजूद छोटा नरेन्द्र बीच-बीच में दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास रहकर रात बिता जाया करते थे। दक्षिणेश्वर में बालक-भक्तों के आते ही श्रीरामकृष्ण आनन्द से विह्वल हो उठते थे। उन्हें वे अपने हाथों से खिलाते। एक दिन छोटा नरेन्द्र दक्षिणेश्वर आये थे। श्रीरामकृष्ण उनकी ओर एकदृष्टि से देखते रहे। देखते-देखते वे समाधिस्थ

---

३. वही, पृष्ठ १८७।

४. वही, पृष्ठ १२६।

हो गये । 'वचनामृत' के लेखक इसका सटीक वर्णन करते हुए लिखते हैं—

'भक्तगण निर्निमेष नयनों से वह समाधिं चित्र देख रहे हैं । इतना हँसी-मजाक हो रहा था, सब बन्द हो गया, जैसे कमरे में एक भी आदमी न हो । श्रीरामकृष्ण का शरीर निस्पन्द है, दृष्टि स्थिर है । हाथ जोड़कर चित्रवत् बैठे हुए हैं । कुछ देर बाद समाधि भंग हुई । श्रीरामकृष्ण की वाक् स्थिर हो गयी थी । अब उन्होंने लम्बी साँस छोड़ी । क्रमशः मन बाह्य संसार में आ रहा है । भक्तों की ओर वे देख रहे हैं ।'

अब भी भावमग्न हैं । अब भक्तों को सम्बोधित करके, किसे क्या होगा, किसकी कैसी अवस्था है, संक्षेप में कह रहे हैं ।

श्रीरामकृष्ण—(छोटा नरेन्द्र से) तुझे देखने के लिए मैं व्याकुल हो रहा था । तेरी बन जाएगी । कभी-कभी आया कर । अच्छा, तू क्या चाहता है—ज्ञान या भक्ति ?

छोटा नरेन्द्र—केवल भक्ति ।

श्रीरामकृष्ण—बिना जाने तू किसकी भक्ति करेगा? (मास्टर को दिखाकर, सहास्य) इन्हें अगर तू जाने ही नहीं, तो इनकी भक्ति कैसे कर सकेगा ? (मास्टर से) परन्तु शुद्धात्मा ने जब कहा है कि केवल भक्ति चाहिए तो इसका अर्थ भी अवश्य है । आप हीं आप भक्ति का आना संस्कार के बिना नहीं ोता । यह प्रेमाभक्ति का लक्षण है, ज्ञान-विचार के बाद होनेवाली भक्ति ।

(छोटा नरेन्द्र से) "देखूं तेरी देह, कुर्ता उतार तो जरा, छाती खूब चौड़ी है, तो काम सिद्ध है । कभी-कभी

आना ।"

भावावस्था में श्रीरामकृष्ण ने उस दिन छोटा नरेन्द्र की आध्यात्मिक उन्नति कितनी दूर हुई थी तथा वे किस प्रकार के भक्त थे आदि के सम्बन्ध में बतलाया था ।[५]

छोटा नरेन्द्र जब श्रीरामकृष्ण के पास आते तो उनकी थोड़ी-बहुत सेवा किया करते । कई बार श्रीरामकृष्ण भी भक्तों से सेवा करा लिया करते थे । एक दिन बलराम के घर आते ही श्रीरामकृष्ण ने मास्टर महाशय से कहा था, "छोटा नरेन्द्र और बाबूराम के लिए मैं आया ।"

उन लोगों को बुलाने के लिए आदमी भेजा गया था । छोटा नरेन्द्र आये । श्रीरामकृष्ण मुँह धोने के लिए जा रहे हैं । छोटा नरेन्द्र अँगोछा लेकर श्रीरामकृष्ण को पानी देने के लिए गये । साथ में मास्टर भी हैं । छोटा नरेन्द्र पश्चिम-वाले बरामदे के उत्तर कोने में श्रीरामकृष्ण के हाथ-पैर धो रहे हैं, पास ही मास्टर भी खड़े हैं ।

बलराम के घर से श्रीरामकृष्ण गाड़ी से निमु गोस्वामी लेन में देवेन बाबू के घर गये थे । साथ में मास्टर, छोटा नरेन्द्र और दो-एक भक्त थे । श्रीरामकृष्ण पूर्ण के लिए व्याकुल थे । मास्टर से उन्होंने कहा था, "आज उसे ले आते, लाये क्यों नहीं ?" श्रीरामकृष्ण की यह बात सुनकर छोटा नरेन्द्र हँस दिये । इस प्रसंग में श्री 'म' लिखते हैं— "छोटा नरेन्द्र को हँसते देखकर श्रीरामकृष्ण भी हँस रहे हैं और भक्तगण भी हँस रहे हैं । श्रीरामकृष्ण आनन्दपूर्वक छोटा नरेन्द्र की ओर संकेत करके मास्टर से कह रहे हैं— देखो, देखो, किस तरह हँस रहा है, जैसे कुछ भी नहीं

५. वही, पृ. ५२ ।

जानता, परन्तु उसके मन के भीतर जमीन, जोरू, रुपया कुछ नहीं है। तीनों में से एक भी उसके मन में नहीं है। मन से कामिनी और कांचन के बिल्कुल गये बिना कभी ईश्वर-लाभ नहीं होता।"[६]

श्रीरामकृष्ण जिन तीन लोगों की पुरुषसत्ता की बात भक्तों से कहते थे, उनमें छोटा नरेन्द्र भी एक थे; बाकी दो थे--नरेन्द्र तथा पूर्ण। वे कहते थे, "छोटा नरेन्द्र का पुरुषभाव है, इसीलिए मन लीन हो जाया करता है। भावादि नहीं होता है।"[७]

श्री जगन्नाथजी की रथयात्रा के दिन (१८८५ ई० की १३वीं जुलाई) श्रीरामकृष्ण प्रतिवर्ष की भाँति इस बार भी बलराम बाबू के घर आये थे। घर के बैठकखाने में महेन्द्र मुखोपाध्याय, हरि बाबू, छोटा नरेन्द्र एवं अन्यान्य कई बालक भक्तों के साथ श्रीरामकृष्ण बातचीत कर रहे थे। छोटा नरेन्द्र की ओर देखकर वे उपदेश देने लगे—"ईश्वर हैं"--केवल इतना ही आभास पाने से क्या होगा? ईश्वर की केवल झलक से ही सब कुछ हो जाता हो, सो बात नहीं।

"उन्हें अपने घर ले आना चाहिए, उनसे जान-पहचान करनी चाहिए।

"किसी ने दूध की बात सुनी ही है। किसी ने दूध देखा है और किसी ने पिया है।

"राजा को किसी-किसी ने देखा है, परन्तु दो-एक आदमी उन्हें अपने मकान ले आ सकते हैं और उन्हें खिला-

६. वही, पृ. ९५।
७. वही, पृ. २१२।

पिला सकते हैं ।"

छोटा नरेन्द्र ने पूछा—"अच्छा, हम लोगों में स्वाधीन इच्छा है या नहीं ?"

श्रीरामकृष्ण—मैं क्या हूँ, कौन हूँ, पहले इसे खोज तो लो । 'मैं' की खोज करते ही करते 'वे' निकल पड़ेंगे । 'मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री ।' चीन का बना हुआ (कलवाला) पुतला चिट्ठी लेकर दुकान चला जाता है, तुमने सुना है ? ईश्वर ही कर्ता हैं । अपने को अकर्ता समझकर कर्ता की तरह काम करते रहो ।

"जब तक उपाधियाँ हैं, तभी तक अज्ञान है । मैं पण्डित हूँ, मैं ज्ञानी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं कर्ता हूँ, पिता हूँ, गुरु हूँ, यह सब अज्ञान से होता है । 'मैं यन्त्र हूँ, तुम यन्त्री हो', यह ज्ञान है । उस समय सब उपाधियाँ दूर हो जाती हैं । काठ के जल जाने पर फिर शब्द नहीं होता, न ताप रहता है । सब ठण्डा हो जाता है ।—शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।"[८]

श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र को गाने के लिए कहा । कई तरह की बहानाबाजी करने के बाद नरेन्द्रनाथ ने गाना शुरू किया—(१) 'कतो दिने होबे से प्रेम संचार । होये पूर्णकाम बोलबो हरिनाम, नयने बोहिबे प्रेम-अश्रुधार ।।'; (२) 'निबिड़ आँधारे मा तोर चमके ओ रूपराशि । ताई जोगी ध्यान धरे होये गिरि-गुहावासी ।।' रथयात्रा का दिन होने के कारण बलराम बाबू ने कीर्तन की व्यवस्था की थी—वैष्णवचरण तथा बनवारी का कीर्तन । अब वैष्णवचरण ने गाना

८. वही, पृ. २२५ ।

शुरू किया—'श्री दुर्गानाम जपो सदा रसना आमार। दुर्गमे श्री दुर्गा बिने के कोरे निस्तार।।' गाना सुनते-सुनते श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। इस घटना का वर्णन करते हुए 'वचनामृत' के लेखक लिखते हैं—"छोटा नरेन्द्र पकड़े हुए हैं। मुख पर हास्य की रेखा प्रकट हो गयी। कमरे भर के भक्त आश्चर्य-चकित हो देख रहे हैं। स्त्रियाँ चिक के भीतर से श्रीरामकृष्ण की यह अवस्था देख रही हैं। मानो साक्षात् नारायण देह धारण कर भक्तों के लिए आये हैं। कैसे ईश्वर से प्रेम किया जाय, मानो यही सिखाने के लिए आये हैं।"[१]

समाधिस्थ अवस्था में बहुत कम भक्त श्रीराम-कृष्ण का स्पर्श कर पाते थे। बाबूराम, राखाल, भवनाथ आदि भक्तगण इस दल में थे। शुद्धाधार छोटा नरेन्द्र भी इसी दल के अन्तर्गत थे, 'वचनामृत' का उपर्युक्त वर्णन ही इसका प्रमाण है। किन्तु एक बार इसका व्यतिक्रम हुआ था। १८८५ ई० के रथ-यात्रा-उत्सव में बलराम बसु के घर श्रीरामकृष्ण का शुभागमन हुआ था—इसका उल्लेख किया गया है। उस दिन उन्होंने वहाँ रात्रिवास भी किया था। अगले दिन वे नौका द्वारा दक्षिणेश्वर लौटे थे। साथ में थे योगेन, छोटा नरेन्द्र आदि कुछ बालक-भक्त एवं स्त्री-भक्त। स्त्री-भक्त सभी नौबत में श्री माँ के पास चली गयीं। श्रीरामकृष्ण बालक-भक्तों के साथ कालीमन्दिर में प्रणाम करने के लिए आये तथा नाटमन्दिर के उत्तरी भाग

१. वही, पृ. २२७।

में बैठकर मधुर कण्ठ से गाने लगे —'भुवन भुलाइलि माँ भवमोहिनी । मूलाधारे महोत्पले वीणा-वाद्यविनोदिनी।' भक्तगण मन्त्रमुग्ध हो गाना सुन रहे हैं । गाते-गाते भावाविष्ट हो श्रीरामकृष्ण उठ खड़े हुए। गाना वन्द हो गया । श्रीरामकृष्ण गम्भीर समाधि में मग्न हो गये। उनके शरीर को उस समय एक ओर झुका देख कहीं वे गिर न पड़ें इस विचार से छोटा नरेन्द्र उन्हें पकड़ने को उद्यत हुए । किन्तु उनके स्पर्श करते ही श्रीरामकृष्ण पीड़ा का अनुभव कर बहुत जोर से चिल्ला उठे। छोटा नरेन्द्र यह सोचकर कि श्रीरामकृष्ण को उस समय उनका स्पर्श इच्छित नहीं है, दूर हट गये। 'लीलाप्रसंग' के लेखक लिखते हैं—

"श्रीरामकृष्ण देव के भावावेश के समय श्रीयुत छोटे नरेन जब उन्हें पकड़ने को उद्यत हुए थे, उस समय उनको कष्टानुभव क्यों हुआ था, इस बात का अनुसन्धान करने पर कारण विदित हो सका। छोटे नरेन के मस्तक के बायीं ओर की नस पर एक छोटी सी गाँठ हो गयी थी तथा वह बढती जा रही थी । उसमें कहीं बाद में पीड़ा न हो, यह सोचकर डाक्टरों ने दवा का प्रयोग कर उस जगह घाव बना दिया था। हमने पहले यह सुना था कि शरीर में घाव रहने पर देवमूर्ति का स्पर्श नहीं करना चाहिए, किन्तु इस बात की सत्यता हमारी आँखों के सम्मुख इस तरह प्रमाणित होगी, यह किसे कल्पना थी ! देवभाव में तन्मयता प्राप्त कर बाह्यचेतना का एकदम लोप हो जाने पर भी अन्तर्निहित किस दैवी शक्ति के प्रभाव से श्रीरामकृष्णदेव उस तरह चिल्ला उठे थे,

यह समझना हमारे लिए सम्भव न होने पर भी उनको जो वास्तव में कष्टानुभव हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं। हमें पता है कि छोटे नरेन को श्रीरामकृष्णदेव कितना शुद्धस्वभाव कहा करते थे एवं छोटे नरेन के शरीर में घाव रहने पर भी साधारण स्थिति में और लोगों की तरह उन्हें वे छुआ करते थे तथा उनको अपना चरणस्पर्श करने देते थे और उनके साथ उठा-बैठा भी करते थे। अतः छोटा नरेन के लिए यह जानना सम्भव ही कैसे था कि भावावस्था में श्रीरामकृष्णदेव उनके स्पर्श को सहन न कर सकेंगे? अस्तु, तब से उनका घाव जब तक ठीक नहीं हो गया, तब तक भावावेश के समय उनका वे स्पर्श नहीं करते थे।"[१०]

१५ जुलाई १८८५ ई० को श्रीरामकृष्ण बलराम के घर गये थे। वहाँ निरंजन, पूर्ण, मास्टर, नरेन्द्र, बेलघरिया के तारक आदि उनका दर्शन करने आये थे। परन्तु छोटा नरेन्द्र नहीं आये थे। भक्तों के समक्ष छोटा नरेन्द्र के गुणों की प्रशंसा करते हुए श्रीरामकृष्ण कहने लगे, "कितने आश्चर्य की बात है, वह (छोटा नरेन्द्र) बचपन में स्कूल से लौटकर ईश्वर के लिए रोता था। (ईश्वर के लिए) रोना क्या सहज ही होता है?

"फिर बुद्धि भी खूब है। बाँसों में बड़े छेदवाला बाँस है।

"और सब मन मुझ पर रहता है। गिरीश

१०. 'लीलाप्रसंग', द्वितीय भाग, पृ. ४४३-४५।

घोष ने कहा, 'नवगोपाल के यहाँ जिस दिन कीर्तन हुआ था, उस दिन (छोटा नरेन्द्र) गया था, परन्तु 'वे कहाँ' कहकर बेहोश हो गया, लोग उसके ऊपर से चले जाते थे !'

"उसे भय भी नहीं है कि घरवाले नाराज होंगे। दक्षिणेश्वर में लगातार तीन रात रहा था।"[११]

और एक दिन दक्षिणेश्वर में राखाल, मास्टर आदि भक्तों के समक्ष श्रीरामकृष्ण ने कहा था. "एक-एक भक्त की अवस्था कितने आश्चर्य की है! छोटा नरेन्द्र---इसे कुम्भक आप ही आप होता है और फिर समाधि भी! एक-एक बार कभी-कभी ढाई घण्टे तक! कभी और देर तक!—कैसे आश्चर्य की बात है !"[१२]

काशीपुर में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने छोटा नरेन्द्र के सम्बन्ध में कहा था, "हाँ, हाँ, उसके (छोटा नरेन्द्र के) भीतर विषय-बुद्धि का लेशमात्र भी नहीं है। वह कहता है. 'मुझे नहीं मालूम कि काम किसे कहते हैं'।"[१३]

छोटा नरेन्द्र को श्रीरामकृष्ण कितना उच्चासन देते थे, उनकी कितनी प्रशंसा करते थे यह दक्षिणेश्वर की और एक घटना से जाना जा सकता है। पानीहाटी महोत्सव (१८८५) के बाद भक्तों के साथ श्रीराम-कृष्ण दक्षिणेश्वर लौट आये थे। भक्तगण प्रणाम करके उनसे विदा लेकर नाव पर चढ़े। इतने में

११. 'वचनामृत', तृतीय भाग, पृ. ३२२।

१२. वही, पृ. २७४।

१३. वही, पृ. ५०६।

एक भक्त जूता लाना भूल जाने के कारण पुनः श्रीरामकृष्ण के कमरे में दौड़कर गये। लौटकर आने का कारण पूछने के बाद श्रीरामकृष्ण उस दिन के आनन्द की बात, भक्तों के भावावेश की बात कहने लगे। छोटा नरेन्द्र की प्रशंसा करते हुए उनसे कहा, "... छोटा नरेन्द्र अच्छा लड़का है, है न? तू एक दिन उसके घर जाकर उससे परिचय प्राप्त कर आना, क्यों?" युवक ने उनकी बातों में हामी भरकर कहा, "किन्तु महाराज, मुझे बड़े नरेन्द्र जैसा अच्छे लगते हैं, कोई दूसरा वैसा नहीं लगता।" श्रीरामकृष्णदेव न उसे डाँटकर कहा, "तू तो बड़ा एकांगी है, एकांगी होना हीनबुद्धि का परिचायक है। भगवान् की टोकरी में विभिन्न प्रकार के फूल रहते हैं—उसी तरह भक्त भी अनेक प्रकार के होते हैं; उन सबों के साथ मिलकर आनन्द न कर सकना अति हीनबुद्धि का कार्य है। तू छोटा नरेन्द्र के पास एक दिन जरूर जाना--क्यों, जाएगा न?" लाचार होकर वह राजी हुआ और प्रणाम कर नाव में लौट आया। बाद में विदित हुआ कि श्रीरामकृष्णदेव के कहने के अनुसार वह युवक छोटा नरेन्द्र के साथ परिचय करने के लिए जब गया था, तो उनके साथ बातचीत से उसके जीवन की एक गुरुतर समस्या का समाधान ो गया और वह अपने को धन्य समझने लगा था।[१४]

श्रीरामकृष्ण एक दिन बलराम के घर गये थे। विनोद, राखाल, मास्टर आदि भक्त भी थे।

१४. 'लीलाप्रसंग', तृतीय खण्ड, पृ. २०७-२०८।

छोटा नरेन्द्र भी आकर उपस्थित हुए। श्रीरामकृष्ण बलराम के घर आते ही बालक-भक्तों को बुला भेजते। छोटा नरेन्द्र ने अभी उस दिन कहा था, "मुझे काम रहता है, इसलिए सदा मैं नहीं आ सकता, परीक्षा के लिए भी तैयारी करनी पड़ रही है।" छोटा नरेन्द्र के आने पर श्रीरामकृष्ण उनसे बातचीत करते हुए कहने लगे, "तुझे बुलाने के लिए मैंने आदमी नहीं भेजा।"

छोटा नरेन्द्र—(हँसते हुए)—तो इससे क्या होना है?

श्रीरामकृष्ण—नहीं भाई, तुम्हारा नुकसान होता है, जब अवकाश हो तब आया करो!

श्रीरामकृष्ण ने जैसे अभिमान करके ये बातें कहीं।[१५]

बलराम के घर से श्रीरामकृष्ण नन्द बोस के घर चतुर्भुज विष्णुमूर्ति, हनुमान्, श्रीराम, वंशीधर श्रीकृष्ण, वामनावतार आदि मूर्तियों को देखने गये। इसके बाद शोकातुरा ब्राह्मणी के घर उनका शुभागमन हुआ। ये शोकातुरा ब्राह्मणी श्रीरामकृष्ण-भक्त-मण्डली में 'गोलाप-माँ' के नाम से परिचित थीं तथा वे श्री माँ की संगिनी थीं। गोलाप-माँ छोटा नरेन्द्र को बुलाकर लायी थीं। भक्तों से वे कहने लगीं, "छोटा नरेन्द्र को मैं ले आयी हूँ, नहीं तो हँसेगा कौन?" छोटा नरेन्द्र की बात पर सभी हँसा करते। जब श्रीरामकृष्ण गोलाप-माँ से विदा ले गए

१५. 'वचनामृत', तृतीय भाग, पृ. २४०-२४१।

की माँ के घर जाने को तैयार हुए, उस समय सन्ध्या हो गयी थी। एक व्यक्ति दिया लेकर श्रीरामकृष्ण को रास्ता दिखा रहा था। एक जगह प्रकाश ठीक नहीं पहुँचा। तब छोटा नरेन्द्र ऊँचे स्वर से कहने लगे, "दिया दिखाओ, दिया दिखाओ! यह न सोचो कि दिया दिखाना अब बस है।" इस बात पर सभी जोरों से हँस पड़े। उस हँसी का फुहारा वहीं पर बन्द नहीं हुआ, बल्कि गनू की माँ के घर पहुँचते तक चलता रहा। गनू की माँ के घर श्रीरामकृष्ण को आनन्द देने के लिए कई लड़के 'कन्सर्ट' (Concert) बजा रहे थे। लड़कों को गाना गाने के लिए कहा गया। गोलाप-माँ भी आयी थीं। उन्होंने कहा कि लड़कों में से कोई गाना नहीं जानता है। यद्यपि एक लड़का गाना जानता था, परन्तु श्रीरामकृष्ण के सामने वह गा नहीं पा रहा था। तब एक लड़के ने कहा, "क्यों? मैं तो बाबा के सामने गा सकता हूँ।" छोटा नरेन्द्र ने जोर से हँसकर कहा, "इतनी दूर वे बढ़ नहीं सके।" सब हँसने लगे।[१६]

श्रीरामकृष्ण ने छोटा नरेन्द्र के सम्बन्ध में एक बार कहा था, "उसकी बहुत ऊँची अवस्था है; यदि कामिनी-कांचन ने डंक नहीं मारा, तो वह एक महायोगी होगा।"[१७]

किन्तु विधाता के विधान से छोटा नरेन्द्र को १८८६ ई० के प्रारम्भ में विवाह करना पड़ा। श्री-

१६. वही, पृ. २५८।
१७. वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला); प्रथम संस्करण, पृ. ३३४।

रामकृष्ण उस समय काशीपुर में अन्तिम शय्या पर थे। विवाह करने के पश्चात् छोटा नरेन्द्र श्रीरामकृष्ण का दर्शन करने काशीपुर गये थे। उस दिन की घटना के सम्बन्ध में 'लीलाप्रसंग' के लेखक लिखते हैं—'एक भक्त विवाह करने के बाद काशीपुर के बगीचे में उनसे मिलने आया था। उसे देखते ही मानो उन्हें पुत्रशोक हुआ है, इस ढंग से उसके गले लिपटकर रोते हुए बार बार कहने लगे, "ईश्वर को भूलकर एकदम संसार में डूब न जाना।"'[१८]

किन्तु परवर्ती काल में छोटा नरेन्द्र का दाम्पत्य जीवन सुखकर नहीं हुआ। वे क्रमशः कामिनी-कांचन में आबद्ध हो गये। श्री माँ सारदादेवी ने भक्तों से एक बार कहा था, "...छोटा नरेन्द्र अन्त में कामिनी-कांचन में बहुत आसक्त हो गया, धन-दौलत में आबद्ध हो गया। ठाकुर इन लोगों में जिस जिसके सम्बन्ध में जो-जो कह गये हैं, सो-सो अक्षरशः सत्य हो रहा है।"[१९]

छोटा नरेन्द्र वकालती पढ़कर कलकत्ता हाईकोर्ट में एटर्नी हुए थे। किन्तु वकालती व्यवसाय में वे अधिक धन जमा नहीं कर पाये थे। विदेश से लौटकर स्वामी विवेकानन्द ने जब १ मई १८९७ ई० को बलराम-मन्दिर में भक्तों की उपस्थिति में रामकृष्ण मिशन की प्रतिष्ठा की तो मिशन के प्रथम सेक्रेटरी हुए हम लोगों के 'छोटा नरेन्द्र'—बाबू नरेन्द्रनाथ मित्र।[२०]

---

१८. 'लीलाप्रसंग', तृतीय खण्ड, पृ. १३६।
१९. 'श्रीश्रीमायेर कथा', प्रथम भाग, ११ वाँ संस्करण, पृ. १२९।
20. Swami Gambhirananda: 'History of the Ramakrishna Math & Mission' (1957), P. 121.

१९०९ ई० में जब मिशन को पंजीकृत किया गया, तब 'छोटा नरेन्द्र' ने मिशन की बहुत सहायता की थी। मिशन को जब कभी विधि-विषयक परामर्श या सहायता लेने की आवश्यकता पड़ी, उन्होंने मिशन के साधुओं के आह्वान पर प्रसन्नतापूर्वक काम किया।

○

"कलकत्ता जाने के लिए कई रास्ते हैं। एक बार किसी मुसाफिर ने एक आदमी से कलकत्ता जाने का रास्ता पूछा। उस आदमी ने कहा, 'इस रास्ते से चले जाओ।' थोड़ी दूर चलकर उसने और एक जन से रास्ता पूछा। उसने और एक रास्ता बताया। इस तरह वह थोड़ा सा आगे बढ़कर किसी से रास्ता पूछता और उसके दूसरा रास्ता बताने पर अपना पहला रास्ता छोड़ उसी पर चलने लगता। ऐसा करते वह आखिर तक रास्तों पर ही भटकता रहा, कलकत्ता नहीं पहुँच पाया। यदि कलकत्ता जाना हो तो जो ठीक रास्ता जानता है ऐसे एक ही व्यक्ति से रास्ता पूछकर उसी के निर्देशानुसार चलना चाहिए। इसी भाँति यदि ईश्वर के निकट पहुँचना हो तो एक जन का निर्देश मानकर चलो, नहीं तो फिजूल भटकते फिरोगे।"

—श्रीरामकृष्ण

मन और उसका निग्रह

(गीताध्याय ६, श्लोक ३३-३६)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।

एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।।६।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।६[३४।।

अर्जुनः (अर्जुन) उवाच (बोला)—

मधुसूदन (हे मधुसूदन) त्वया (आपके द्वारा) अयं (यह) यः (जो) योगः (योग) साम्येन (समत्व के रूप में) प्रोक्तः (कहा गया है) [मनसः (मन के)] चञ्चलत्वात् (चंचल होने से) अहं (मैं) स्थिरां (टिकनेवाली) स्थितिं (स्थिति को) न (नहीं) पश्यामि (देखता हूँ)।

"अर्जुन बोला—हे मधुसूदन, आपके द्वारा समत्व के रूप में यह जो योग बताया गया है, (मन के) चंचल होने के कारण मैं (उसकी) टिकनेवाली स्थिति नहीं देखता हूँ।"

हि (क्योंकि) कृष्ण (हे कृष्ण) मनः (मन) चञ्चलं (चंचल) प्रमाथि (मथ देनेवाला) दृढं (हठीला) बलवत् (बलवान् है) तस्य (उसका) निग्रहम् (निग्रह) अहं (मैं) वायोः (वायु की) इव (भाँति) सुदुष्करं (अत्यन्त कठिन) मन्ये (मानता हूँ)।

"क्योंकि हे कृष्ण, मन चंचल है, मथ देनेवाला, हठीला (और) बलवान् है; उसका निग्रह मैं वायु के (निग्रह के) समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ।"

पिछले श्लोकों में श्रीकृष्ण ने योगी के समत्व-भाव का वर्णन किया। उसे सुनकर अर्जुन को कोई प्रेरणा नहीं मिली। सम्भवत: श्रीकृष्ण ने सोचा था कि अर्जुन साम्य-स्थिति का वर्णन सुनकर उत्साहित होगा और उसे प्राप्त करने की इच्छा उसमें जन्म लेगी। पर वैसा नहीं होता। अर्जुन को लगता है कि मन के चंचल रहते ऐसी स्थिति कैसे मिल सकती है? जिस समत्वयोग की बात श्रीकृष्ण कह रहे हैं, वह तो मन से ही सम्बन्धित है। मन यदि शान्त होता है, तो समत्वयोग की साधना सध सकती है, पर जब मन ही अशान्त बना हुआ है, तब आपने समत्व के रूप में जिस योग का प्रतिपादन किया है, वह कैसे सधेगा?

फिर, यदि ध्यानयोग की साधना से, अष्टांग योग की बहिरंग साधना के द्वारा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की सहायता से—मन 'धारणा' में थोड़ा सक्षम हुआ भी, तो वह तो थोड़े ही क्षणों के लिए होगा, वह कोई स्थिरां' (दीर्घ-काल टिकनेवाली) स्थिति नहीं होगी।

अर्जुन का कथन अपने स्थान पर पूर्णत: सही है। हम योग की चरम स्थिति का कितना ही लुभावना वर्णन क्यों न करें, वह हमारी आज की मन:स्थिति के लिए तो कवि-कल्पना मात्र ही है। अर्जुन ३४वें श्लोक में अपने कथन की पुष्टि में जो युक्ति प्रस्तुत करता है, वह अकाट्य है। वह मन के लिए चार विशेषण लगाता है—(१) चंचल, (२) मन्थनशील, (३) बलवान् और (४) हठी।

मन की चंचलता जगजाहिर है। उसकी उपमा

स्वामी विवेकानन्द ऐसे बन्दर से देते हैं, जिसने शराब पी है और फिर जिसे बिच्छू ने डंक मार दिया है। एक तो बन्दर वैसे ही चंचल होता है। फिर शराब पीकर उसके उन्मत्त हो जाने से चंचलता कितनी बढ़ गयी! उसके ऊपर बिच्छू उसे डंक मार दे!! अब ऐसे चचल मन को कैसे वश में किया जाय!

यदि मन मात्र चंचल होता, तो भी कोई बात थी; वह तो 'प्रमाथि' है, उसका स्वभाव मथ देने का है। जब वह अपनी आसक्ति के किसी विषय की ओर जाता है, तो उसे रोकना सम्भव नहीं। वह इन्द्रियों को उसी प्रकार मथकर विक्षुब्ध कर देता है, जैसे मथानी दही को। जब उसमें काम-क्रोध आता है, तो मारे रक्त को मानो खौला देता है।

प्रश्न उठता है कि क्या तब हम चुपचाप बैठे रहें और मन को अपना खेल खेलने दें? क्या उसे बलपूर्वक रोकने की चेष्टा न करें?

अर्जुन कहता है कि रोकोगे कैसे? वह तो अत्यन्त बलवान् (बलवत्) है। मन से बल में कौन सकेगा?

तो फिर मन को समझाकर ठीक रास्ते पर ले आओ।

यह भी कहाँ सम्भव है, वह हठी (दृढम्) जो है। बड़ा अड़ियल है। किसी की बात नहीं मानता। उसे जो अच्छा लगता है, वही करता है।

इसीलिए अर्जुन मन के निग्रह को वायु के निग्रह के समान 'सुदुष्कर' मानता है। उसने तो पूर्व में भी (३/३६) अपनी कठिनाई बतलाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा था—'किसके द्वारा प्रेरित होकर

मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप में प्रवृत्त होता है, मानो वह बलपूर्वक उसमें लगा दिया गया हो ?' फिर यहाँ पर अर्जुन का यह भी संकेत हो सकता है कि भगवन्, आप ही तो मन को 'चंचल' और 'अस्थिर' बतलाते हैं (६/२६), ऐसी दशा में यह साम्ययोग व्यवहार में कैसे उतारा जा सकता है ? अर्जुन के ही समान हमें भी यही लगता है कि मन को वश में लाना असम्भव-सा है। अर्जुन की बात को भगवान् कृष्ण काटते नहीं हैं, अपितु एक प्रकार से उसका समर्थन ही करते हैं; किन्तु साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि ऐसे दुर्दान्त मन को भी अपने अधिकार में लेने का उपाय है।

श्रीभगवाननुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।६/३५।।

श्रीभगवान् (श्री भगवान्) उवाच (बोले)—

महाबाहो (हे महाबाहो) असंशयं (निस्सन्देह) मनः (मन) चलं (चंचल) दुर्निग्रहं (कठिनाई से वश में होनेवाला है) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कुन्ती-पुत्र) अभ्यासेन (अभ्यास से) च (और) वैराग्येण (वैराग्य के द्वारा) गृह्यते (पकड़ा जाता है)।

"हे महाबाहो, सन्देह नहीं कि मन चंचल है (और) कठिनाई से वश में होनेवाला है, किन्तु हे कुन्तीपुत्र, अभ्यास से और वैराग्य के द्वारा (उसे) पकड़ा जाता है।"

श्लोक के पूर्वार्ध में भगवान् कृष्ण अर्जुन के कथन की ही पुष्टि करते हैं। उनकी शिक्षा देने की प्रणाली बड़ी मनोवैज्ञानिक है। यदि वे अर्जुन की

बात को काट देते, तो सम्भव है उसके मन में क्षोभ हुआ होता और बाद में जो कृष्ण कहनेवाले हैं, उसके प्रति वह उतना आग्रहवान् नहीं भी हुआ होता। यदि कोई मेरे पास अपनी कठिनाई लेकर आवे और मैं कह दूँ कि इसमें भला क्या कठिनाई है, तो आगन्तुक की बुद्धि कुण्ठित हो जाएगी और मैं जो कहूँगा उसे वह खुले हृदय से स्वीकार नहीं कर पाएगा। पर यदि उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए कहूँ—"तुम ठीक कहते हो, यह है ही कठिन। तुम्हें ही नहीं, मुझे भी यह पहले-पहल बड़ा कठिन लगता था, पर बाद में ऐसा-ऐसा करने से वह कठिनाई सुलझ गयी। तुम भी वैसा ही करके देखो।"—तो इतने से में महान् अन्तर हो जाता है। प्रश्नकर्ता को लगता है कि मैं उसके प्रति सहानुभूति से भरा हूँ, और वह मनोवैज्ञानिक रूप से मेरी बात को सुनने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। श्रीकृष्ण ठीक यही करते हैं। वे अर्जुन की कठिनाई को हँसकर उड़ाते नहीं। वे जानते हैं कि अर्जुन बचपन से ही संयमी है, उसका अपने मन पर पूरी तरह से नियंत्रण है। द्रोणाचार्य जब सब राजकुमारों को लक्ष्य-वेध की शिक्षा देते हैं और सबसे क्रम से पूछते हैं कि वृक्ष की डाली पर बैठे पक्षी के साथ साथ और क्या क्या दिख रहा है, तो वह केवल अर्जुन है जो कहता है कि पक्षी की आँख के सिवा मुझे और कुछ नहीं दिख रहा है। शेष अन्य तो बहुत कुछ देखते हैं। यह प्रदर्शित करता है कि अर्जुन कितना निग्रहवान् है। फिर स्वर्ग में जब अपूर्व रूपसी उर्वशी रात्रि के एकान्त में अर्जुन के पास प्रणय-निवेदन लेकर आती है तब

वह उसे 'माता' कहकर प्रणाम करते हुए विफल-मनोरथ कर देता है और बदले में कुछ काल के लिए नपुंसकता का अभिशाप ग्रहण करता है। इससे पता चलता है कि अर्जुन कितना महान् संयमी था। ऐसा अर्जुन आज जब भगवान् श्रीकृष्ण से कहता है कि मन को पकड़ना मेरे मत में वायु को पकड़ने के समान कठिन है, तो भगवान् उसकी मनःस्थिति को समझ जाते हैं और सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते हैं कि अर्जुन, तुम ठीक कहते हो, यह मन अतिशय चंचल और दुर्जय है, पर बात क्या है, भाई, जानते हो, ऐसा दुर्जय मन भी अभ्यास और वैराग्य के द्वारा काबू में लाया जा सकता है।

श्लोक के उत्तरार्ध में आया 'तु' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका उच्चारण करके श्रीकृष्ण अर्जुन के मन को अपनी ओर खींच लेते हैं, अपनी बात सुनने के लिए उसके मन को उन्मुख कर देते हैं। जब अर्जुन देखता है कि श्रीकृष्ण ने उसकी समस्या को समस्या के ही रूप में स्वीकार किया है, तो उसका मानसिक तनाव शिथिल होता है और पूरे मनोयोग के साथ श्रीकृष्ण जो कहते हैं उसे सुनता है।

यहाँ पर 'महाबाहो' का सम्बोधन अर्थपूर्ण है। श्रीकृष्ण स्मरण करा देते हैं—अर्जुन, तुम तो महावीर हो, तुमने अपने पराक्रम से किरात-वेशधारी शंकरजी को सन्तुष्ट किया है, तुममें मन का संयम भी अपार है, फिर भी तुम मन के सामने घुटने टेकने की बात कर रहे हो! साहस मत हारो, तात! अभ्यास और वैराग्य का अवलम्बन करो।

अभ्यास में बड़ी शक्ति है। हमने पूर्व में एक उदाहरण दिया है कि कैसे एक आदमी एक बड़े बैल को बाँहों में उठाकर दर्शकों को चकित कर दिया करता था। बैल जब दो दिन का बछड़ा था, तभी से प्रतिदिन वह उसे उठाया करता और इस अभ्यास के फलस्वरूप बैल के बड़े हो जाने पर भी वह उसे आसानी से उठा लेता था। लोग निरंकुश हाथी या घोड़े को अभ्यास के द्वारा किस प्रकार अपने वश में कर लेते हैं, यह तो सभी जानते हैं। सर्कस में खूँख्वार जानवरों को अभ्यास के द्वारा ही करतब सिखाये जाते हैं। अतएव मनुष्य को अच्छे कामों का अभ्यास डालना चाहिए। कठिन से कठिन काम भी अभ्यास से आसान हो जाता है। 'योगवासिष्ट' में एक श्लोक आता है—'जन्मकोटिचिराभ्यस्ता राम संसारवासना'—यह संसार की वासना करोड़ों जन्मों के अभ्यास से पुष्ट हुई है। अतएव यदि इसे निर्मल करना है, तो उसके लिए वैसा अभ्यास भी चिरकाल तक करना पड़ेगा। कुछ दिन हम साधना करें और कहें कि कहाँ, कुछ तो प्रगति हुई नहीं, तो उससे काम बनने का नहीं। मुनि पतंजलि भी अपने 'योगसूत्र' में चित्त की चंचलता को दूर करने का उपाय बताते हुए कहते हैं—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१/१२)

—अर्थात् अभ्यास और वैराग्य के द्वारा उन (चित्त-वृत्तियों) का निरोध होता है।

अभ्यास क्या है?

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' (१/१३)—उन चित्त-

वृत्तियों को स्थिति में रखने के लिए अर्थात् पूरी तरह अपने वश में रखने के लिए जो सतत प्रयत्न है, उसे अभ्यास कहते हैं।

क्या कुछ दिन के अभ्यास से उद्देश्य सिद्ध हो जाएगा ?

नहीं. 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ-भूमिः' (१/१४)—दीर्घकाल तक परम श्रद्धा के साथ सतत चेष्टा करने से तब कहीं वह अभ्यास दृढ़मूल होता है। अभ्यास में निरन्तरता और श्रद्धा दोनों आवश्यक हैं। श्रद्धा न हो तो अभ्यास उबाऊ हो जाएगा और उसकी निरन्तरता खण्डित हो जाएगी, और यदि अभ्यास में निरन्तरता न हो तो मात्र अभ्यास के प्रति श्रद्धा हमारे मन के दृढ़मूल संस्कारों को नष्ट करने में समर्थ नहीं होगी। अतएव अभ्यास में इन दोनों गुणों का होना अनिवार्य है। पंतजलि आगे कहते हैं कि अभ्यास की मात्रा पर सिद्धि की मात्रा निर्भर करती है—'मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेष' (१/२२)—अभ्यास हल्का हो तो सिद्धि की मात्रा भी हल्की होती है; यदि अभ्यास तगड़ा हो तो उसी मात्रा में सिद्धि प्राप्त होती है। अभ्यास मध्यम मात्रा में रहे तो सिद्धि प्राप्त होने की गति भी मद्धिम होती है।

पर अकेले अभ्यास से काम बनने का नहीं, उसके साथ ही साधक में वैराग्य होना चाहिए। वैराग्य का अर्थ है 'विगत राग'—राग अर्थात् आसक्ति विगत की, भूतकाल की बात हो गयी, फलतः द्वेष भी भूत-काल की वस्तु हो गया। संसार में अब किसी के लिए न पक्षपात रहा, न जलन। यह 'वैराग्य' है। जिस.

मानसिक गुण के फलस्वरूप विषय-भोगों की ओर मन आकर्षित नहीं होता, उसे 'वैराग्य' कहते हैं। मन के साथ लड़ाई में अभ्यास यदि तलवार है, तो वैराग्य ढाल। पर मन को मारना नहीं है, उसे बन्दी भी बनाकर नहीं रखना है, बल्कि उसे तलवार और ढाल के सहारे पराजित करके अपने कहे अनुसार चलाना है। कुशल घुड़सवार दुर्जय घोड़े को मार नहीं डालता, न ही उसे बन्दी बनाकर घुड़साल में कैद कर देता है, अपितु वह तो लगाम और चाबुक के सहारे उसे अपने वश में करता है। लगाम वैराग्य है और चाबुक, अभ्यास। दुर्जय घोड़ा जो करना चाहता है, घुड़सवार लगाम के माध्यम से उसे वैसा करने से रोकता है और जो वह नहीं करना चाहता, उसमें चाबुक के सहारे उसे प्रवृत्त किया जाता है। घड़े के छेदों को बन्द करना वैराग्य है और उसमें पानी भरना, अभ्यास। यदि घड़े के छिद्र बन्द न किये जायँ तो अभ्यास निरर्थक श्रम ही होगा, क्योंकि कितना भी पानी भरा जाय, छेदों से सारा पानी बह निकलेगा। इसलिए अभ्यास और वैराग्य दोनों का होना अनिवार्य है। पतंजलि 'वैराग्य' की परिभाषा देते हुए (१/१५) कहते हैं—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्'—अर्थात् देखे और सुने हुए विषयों के प्रति तृष्णा का सर्वथा त्याग कर देनेवाले के पास जो एक अपूर्व मानसिक वृत्ति जन्म लेती है, जिससे वह समस्त विषय-वासनाओं का दमन करने में समर्थ होता है, उसे 'वैराग्य' कहते हैं।

हमारे भीतर विषयों की तृष्णा दो प्रकार से जन्म लेती है। एक प्रकार तो वह है, जहाँ हमने स्वयं उन विषयों

का भोग किया है, जिनकी स्मृति हमारे भीतर विक्षेप उत्पन्न कर मन को चंचल कर देती है; और दूसरा वह है, जहाँ हम दूसरों से विषय-भोग सम्बन्धी उनका अनुभव सुनते हैं या फिर पुस्तकों में भोग-सम्बन्धी बातें पढ़ते हैं। भोगों के बारे में सुनना या पढ़ना भी हमारी लालसा को जगा देता है और मन को विक्षुब्ध कर देता है। इसके लिए 'वैराग्य' ही एकमात्र दवा है। प्रस्तुत श्लोक पर भाष्य करते हुए आचार्य शंकर 'वैराग्य' की परिभाषा देते हुए लिखते हैं—'वैराग्यं नाम दृष्टादृष्टेष्टभोगेषु दोष-दर्शनाभ्यासाद् वैतृष्ण्यम्'—देखे गये तथा नहीं देखे गये प्रिय भोगों में बारम्बार दोष-दर्शन का अभ्यास करने से जो उनके प्रति अरुचि या वितृष्णा जन्म लेती है, उसे 'वैराग्य' कहते हैं। 'तेन वैराग्येण गृह्यते विक्षेपरूपः प्रचारः चित्तस्य'—उस वैराग्य के द्वारा चित्त की विक्षेप-रूप जो चंचलता है, उसे रोका जा सकता है। 'अभ्यास' को समझाते हुए वे लिखते हैं—'अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्यांचित् समानप्रत्ययावृत्तिः चित्तस्य'—चित्त की किसी एक भूमि में एकसमान वृत्ति की बारम्बार आवृत्ति करना 'अभ्यास' कहलाता है।

तो, वैराग्य का अवलम्बन करके विषयों में दोष देखने का सतत अभ्यास करना चाहिए—दोष देखने की मानसिक प्रक्रिया को बारम्बार दुहराना चाहिए। विषयों में दोष किस प्रकार देखें? महर्षि पतंजलि अपने 'योगसूत्र' में कहते हैं—'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (२/१५)—भोगों के परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, और संस्कार-दुःख ऐसे तीन प्रकार के जो दुःख हैं तथा प्रकृति की गुणवृत्तियों का आपस

में जो विरोध है, उन सबको देखकर विवेकी पुरुष सब कुछ दुःखमय ही अनुभव करता है ।

मनुष्य भोगों के पीछे यह सोचकर दौड़ता है कि उनसे उसे सुख मिलेगा । भोग-काल में उसे सुख की जो संवेदना मिलती है, उसी को वह सुख समझ लेता है । पर विवेकी की दृष्टि में वह सुख नहीं है, क्योंकि वह भोग-सुख की संवेदना में परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख तथा तीनों गुणों का परस्पर विरोध ही देख पाता है । भोग-काल में स्थूल दृष्टि से सुख की संवेदना देनेवाले भोग का परिणाम अर्थात् नतीजा दुःखकारक होना 'परिणाम-दुःख' कहलाता है । जैसे स्त्री-प्रसंग के समय मनुष्य को सुख भासता है, किन्तु उसका परिणाम बल, वीर्य, तेज, स्मृति आदि के ह्रास के रूप में प्रत्यक्ष देखने में आता है । ऐसे ही दूसरे भोगों में भी समझ लेना चाहिए ।

फिर भोगों को भोगते-भोगते मनुष्य थक जाता है, उसमें उन्हें भोगने की शक्ति नहीं रहती, परन्तु तृष्णा बनी रहती है । इससे भोगरूप सुख भी उसके लिए दुःखरूप ही हो जाता है । भोग के अन्त में यह जो दुःख का अनुभव है, वह भी 'परिणाम-दुःख' की ही गणना में आता है ।

मनुष्य को जिन भोगों में सुख मिलता है, उनकी प्राप्ति में सहायक व्यक्तियों और वस्तुओं के प्रति उसका स्वाभाविक ही राग (आसक्ति) हो जाता है और जो वस्तु एवं व्यक्ति उन भोगों की प्राप्ति में आड़े आते हैं, उनके प्रति उसके मन में द्वेष-भाव पैदा होता है । इस प्रकार भोग-काल में उसका मन राग-द्वेष से भरा होता है । राग-द्वेष स्वभावतः ही उसके मन में दुःख की सृष्टि करते हैं । यह भी परिणाम-दुःखता है ।

इसी प्रकार 'ताप-दुःख' के भी कई प्रकार हैं। हर भोगरूप सुख विनाशी होता है, अतः उस सुख का वियोग निश्चित है। फलस्वरूप भोग के समय मनुष्य के मन में उसके विनाश की सम्भावना का भय बना रहता है। यह 'ताप-दुःख' का एक प्रकार है। दूसरा प्रकार ईर्ष्या के रूप से प्रकट होता है—उसे जो कुछ प्राप्त है, दूसरों को उससे कहीं अधिक मिला है। तीसरा प्रकार वह है, जहाँ भोग-काल में भोग की अपूर्णता से सन्ताप बना रहता है। हमारे एक परिचित सज्जन एक घटना सुनाया करते हैं। एक वर्ष उनके किसी परिचित ईंट के ठेकेदार को अच्छा मुनाफा हुआ। उससे भेंट होने पर वे उससे बोले—"इस साल तो आपको अच्छा खासा लाभ हुआ है।"

"क्या खाक हुआ है, पिछले साल तो घाटा हो गया था!"—ठेकेदार का उत्तर था।

"पिछले साल की बात छोड़िए, इस साल तो आपको खुशी मनानी चाहिए"—वे बोले।

"क्या खाक खुशी मनाऊँ, मेरे पड़ोसी ठेकेदार को तो दुगुना फायदा हुआ है!"—ठेकेदार ने शिकायत के स्वर में कहा।

यह 'ताप-दुःख' है।

ऐसे ही, भोगों के साथ 'संस्कार-दुःख' जुड़ा हुआ है। जिन-जिन भोगों में मनुष्य को सुख का अनुभव होता है, उस अनुभव के संस्कार उसके हृदय में जम जाते हैं। जब उन भोग-सामग्रियों से उसका वियोग हो जाता है तब वे संस्कार पहले के सुख-भोग की स्मृति द्वारा महान् दुःख के हेतु बन जाते हैं। मनुष्य बीती की याद कर-करके बिसूरता

रहता है और तृष्णा-लालसा की आग में जलता रहता है।

फिर महर्षि पतंजलि 'गुणवृत्तिविरोध' की बात कहते हैं। गुणों के कार्य का नाम गुणवृत्ति है, और गुणों के कार्य में परस्पर अत्यन्त विरोध है। जैसे सत्त्वगुण का कार्य प्रकाश, ज्ञान और सुख है, वैसे ही तमोगुण का कार्य अन्धकार, अज्ञान और दुःख है। इन गुणों के कार्यों में एवंविध परस्पर विरोध होने के कारण हर समय दुविधा बनी रहती है और सुख-भोग के समय भी शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि तीनों गुण एक साथ रहनेवाले हैं। भले ही सुख के अनुभव-काल में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, फिर भी रजोगुण और तमोगुण का अभाव नहीं हो जाता, अतः उस समय भी दुःख और शोक विद्यमान रहते हैं, इसलिए भी वह दुःख ही है। जैसे ध्यान-काल में और सत्संग करते समय सत्त्वगुण की प्रधानता रहने के कारण मनुष्य को सात्त्विक सुख होता है, परन्तु वहाँ भी रजोगुण के कारण सांसारिक स्फुरणा और तमोगुण के कारण तन्द्रा उस सुख में विघ्न कर देती है। ऐसे ही अन्य सब कामों में भी समझ लेना चाहिए। यही 'गुणवृत्तिविरोध' है। विवेकी भोगों में यही सब दोष देखकर सब प्रकार के भोग-सुखों को दुःखरूप ही समझता है।

तो, भगवान् कृष्ण अर्जुन से जिस वैराग्य की बात कह रहे हैं, वह उपर्युक्त शैली से विचार करते हुए भोग-सुखों में दोष देखने से दृढ़ होता है। वैराग्य के दृढ़ होने से अभ्यास की सार्थकता होती है।

जैसे मैंने ऐसे अवधूत देखे हैं, जो दिगम्बर रहते हैं, जिनके पास कमण्डलु तक नहीं होता, पर उनका अपने मन

पर नियंत्रण नहीं होता, वे क्रोधी और यशोनिष्ठ देखे गये हैं, मान-सम्मान की ओर उनकी विशेष दृष्टि होती है। यहाँ वैराग्य तो है, पर अभ्यास के अभाव में मन पर वांछित संस्कार नहीं पड़ पाया।

फिर ऐसे भी सेठ-साहूकारों और गृहस्थियों को देखा है, जो शिकायत करते हैं—'हमने इतना आसन-प्राणायाम किया, इतना जप किया, पर हमें तो कोई सफलता नहीं मिली।' अब इन लोगों में अभ्यास तो है, पर वैराग्य नहीं है।

अतः मन को वश में करने के लिए 'अभ्यास' और 'वैराग्य' दोनों आवश्यक हैं, जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं। 'अभ्यास' के द्वारा चित्त-नदी की धारा को भगवान् की ओर मोड़ा जाता है तथा 'वैराग्य' के द्वारा उसकी विषयाभिमुखी गति को रोकने के लिए बाँध खड़ा किया जाता है। दोनों एक दूसरे के सहायक हैं और एक दूसरे की वृद्धि करते हैं।

जिसके जीवन में 'अभ्यास' और 'वैराग्य' नहीं हैं, वह अपने मन पर नियंत्रण नहीं पा सकता। फलतः वह इस समत्वरूप योग की उपलब्धि से वंचित रहता है। इसी को दर्शाते हुए भगवान् आगे कहते हैं—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।६/३६।।

असंयतात्मना (जिसका मन अपने वश में नहीं है उसके द्वारा) योगः (योग) दुष्प्रापः (दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है) तु (परन्तु) वश्यात्मना (जिसका मन ताबे में है उसके द्वारा) यतता (यत्नशील पुरुष द्वारा) उपायतः (उपाय करने से) [योगः (योग)] अवाप्तुं (प्राप्त होना) शक्यः (सहज है) इति (यह) मे (मेरा) मतिः (मत है)।

"जिसका मन अपने वश में नहीं है, उसके द्वारा (यह समत्वरूप) योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है, परन्तु जिसका मन ताबे में है, ऐसे यत्नशील पुरुष के द्वारा (समुचित) उपाय करने से (यह योग) प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है।"

समत्वरूप योग की उपलब्धि के लिए मन का समत्व में स्थित होना अनिवार्य शर्त है। अब यदि मन ही ताबे में न हो, तो भला वह समता का अनुभव कैसे करेगा ? चंचल मन राग-द्वेष से भरा होता है। राग-द्वेष के कारण वह शत्रु-मित्र बनाता फिरता है, अहंकार और भय की वृत्तियों से उद्वेलित होता रहता है। यदि मन से शत्रु-मित्र का भेदभाव तथा अहंकार और भय की वृत्तियाँ निकल जायँ, तो वह समता में स्थित हो जाएगा।

योग की प्राप्ति के लिए भगवान् तीन बातों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं—(१) 'वश्यात्मना', (२) 'यतना' और (३) 'उपायतः'।

(१) 'वश्यात्मना'—मन वश में हो। यह सिद्ध-अवस्था की नहीं, साधन-अवस्था की परिचायक स्थिति है। योग-प्राप्ति की साधना में कम से कम इतना तो हो कि मन हमारा कहना माने, हमें आदेश न देकर हमारा आदेश स्वीकार करे। संयमी पुरुष मन को अनुचित दिशा में जाने नहीं देता। यह संयम धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से उसमें दृढ़ होता है।

धारणा को यों समझें, जैसे किसी ने बैल खरीदा, तो उसे मजबूत रस्सी से बाँधकर रखना पड़ता है, नहीं तो वह भाग जाएगा।

ध्यान को यों समझें—उस बैल को खिलाया-पिलाया

और उस पर हाथ फिराते रहे। थोड़े दिनों में वह वहाँ रहने का अभ्यस्त हो जाता है। उसे खोल देने पर भी वह घूम-फिरकर, चरकर अपने स्थान पर लौट आता है।

समाधि को यों समझें—बैल अपने खूँटे पर रहने का इतना अभ्यस्त हो गया कि डण्डा लेकर भगाते हैं कि जरा चरने चला जाय, फिर भी नहीं हटता।

यह मन ही बैल है। पहले-पहल इसे बलपूर्वक रोक-कर साधना में लगाये रहना पड़ता है। अभ्यस्त हो जाने पर फिर यह स्वयं लग जाता है।

समत्व-योग की प्राप्ति के लिए मन को इसी प्रकार वश में करके रखना चाहिए। इसी को भगवान् 'वश्यात्मना' कहकर सूचित करते हैं।

(२) 'यतता'—साधक प्रयत्नशील भी हो। ऐसा सोचकर वह चुप न बैठ जाय कि मैंने मन को वश में कर लिया। प्रयत्न की शिथिलता मन को मैला कर देती है और उस पर नियंत्रण ढीला हो जाता है।

श्रीरामकृष्ण ने अपने अद्वैत वेदान्त के गुरु परमहंस तोतापुरी से पूछा, "आप तो समाधिवान् पुरुष हैं, निर्विकल्प समाधि आपको सिद्ध है, फिर भी नियमित रूप से ध्यान का अभ्यास क्यों करते हैं?"

श्रीरामकृष्ण को उत्तर में अपना पीतल का लोटा दिखाते हुए वे बोले, "देखता है मेरा लोटा? कितना चमक रहा है! इसे मैं रोज माँजता हूँ इसीलिए इतना चमक रहा है। यदि रोज न माँजूँ, तो कुछ ही दिन में यह मैला हो जाएगा और इसकी सारी चमक जाती रहेगी। इसी प्रकार मैं रोज मन को ध्यानाभ्यास के द्वारा माँजता

रहता हूँ। यदि ऐसा न करूँ तो मन मैला हो जाएगा।"

तो, संयमी पुरुष को यत्नशील होना चाहिए—सतत इन्द्रियों के निग्रह में लगे रहना चाहिए, अन्यथा योग सध न पाएगा।

(३) 'उपायत:'—योग-प्राप्ति के लिए समुचित, शास्त्र-सम्मत उपाय अपनाना चाहिए। अण्ड-बण्ड कुछ भी करना साधना नहीं है।

एक स्थान पर एक वयस्क व्यक्ति मुझसे मिले। वे विगत तीस वर्षों से साधना का अभ्यास कर रहे थे। उनकी शिकायत थी कि वे तनिक भी आगे नहीं बढ़ पाये हैं। मैंने उनसे पूछा कि वे क्या साधन करते हैं और कहाँ से सीखा है? उन्होंने मेरे सामने करके दिखाया और कहा कि एक संन्यासी से उन्होंने शिक्षा ली है। मैंने देखा कि वह तो हठयोग की मामूली-सी क्रिया थी, उससे भला क्या होना था? सौ वर्ष करते रहने पर भी कुछ होना न था।

यहाँ पर इसीलिए भगवान् कहते हैं—साधन की समुचित प्रणाली किसी अनुभवी से जान लो। जो काम बहुत कठिन लगता है, यदि ठीक उपाय मिल जाय, तो वह सरल हो जाता है। लोग भारी-भारी पत्थर युक्ति से खिसकाते हुए दूर ले जाते हैं और कई-कई मंजिल ऊपर चढा देते हैं। प्राचीन युग में क्रेन थे नहीं, फिर कोणार्क, खजुराहो, हालीबिड, बेलूर आदि के जो बड़े-बड़े पत्थर के मन्दिर दिखाई देते हैं, वे कैसे बने होंगे? इतने बड़े-बड़े पाषाण-खण्ड ऊपर कैसे गये होंगे?—युक्ति से। इसी प्रकार मन को भी वश में करने की युक्तियाँ होती हैं, जिनकी सीख जानकार व्यक्ति से लेनी चाहिए।

तो, ऐसे जो संयमी पुरुष हैं, जो निरन्तर यत्नशील रहते हैं और जो अनुभवी व्यक्ति से मन को बाँधने का समुचित उपाय जानकर प्रयत्न करते हैं, उनके लिए इस समत्वरूप योग की प्राप्ति सहज रूप से सम्भव होती है-- यह स्वयं भगवान् का मत है। O

श्रीरामकृष्ण के प्रिय भजन (७)

'सारदातनय'

(२४)

रचयिता—दाशरथि

(धुन—मनोहरसाही : ताल—झपताल)

हृदि-वृन्दावने वास जदि करो कमलापति।
ओहे भक्तिप्रिय! आमार भक्ति होबे राधासती ।।ध्रु०।।
मुक्तिकामना आमारि, होबे वृन्दे गोपनारी,
देह होबे नन्देर पुरी, स्नेह होबे मा जशोमती ।।१
आमार धरो धरो जनार्दन, पापभार गोवर्धन,
कामादि छय कंसचरे ध्वंस करो सम्प्रति ।।२
बाजाये कृपा-बाँसरि, मन-धेनुके वश करि,
तिष्ठ हृदिगोष्ठे पुराओ इष्ट एइ मिनति ।।३
आमार प्रेमरूप-जमुनाकुले, आशा-वंशीवटमूले,
स्वदास भेबे सदयभावे, सतत करो बसति ।।४
जदि बोलो राखाल-प्रेमे बन्दी थाकि व्रजधामे,
तबे ज्ञानहीन राखाल तोमार दास होबे हे 'दाशरथि' ।।५

भावानुवाद

(राग—मिश्र मांड : ताल—कहरवा)

मम हृद्-वृन्दावन में यदि तुम
करो निवास नाथ कमलापति।
भक्तिप्रिय प्रभो! तब तो मेरी
भक्ति बनेगी तब राधामति ।।ध्रु०।।
यही हमारी मुक्तिकामना
होगी तव वृन्दा व्रजनारी।

देह बनेगी नन्दपुरी औ'
स्नेह बनेगा मात यशोमति ।।१।।
धारण मुझको करो जनार्दन ।
मैं ही पापभार-गोवर्धन
काम आदि छह कंस-चरों का
ध्वंस करो तुम नाथ शीघ्र अति ।।२।।
बजा बजा निज कृपा-बाँसरी
मनोधेनु को वश कर लो हरि ।
चित्तगोष्ठ में राजमान हो
पूर्ण करो इच्छा——यही विनति ।।३।।
प्रेमरूप यमुना के तट पर,
आशा-वंशीवट है सुन्दर ।
सदा सदय हो, स्वदास पर तुम
करो वहीं स्वामी सतत वसति ।।४।।
अगर कहो तुम——'ग्वाल-प्रेम, ने
बाँध रखा है मुझको व्रज में' ।
तब तो ग्वाल बनेगा ये ही
ज्ञानहीन तव दास 'दाशरथि' ।।५।।

(२५)

रचियता–अज्ञात

(राग–अलहिया : ताल–कहरवा)

पड़िये भवसागरे डुबे तनुर तरी ।
माया-झड़ मोह-तुफान क्रमे बाड़े गो शंकरी ।।

एके मन-माझी आनाड़ी, ताहे छ जन गोंवार दाँड़ी ।
कुबातासे दिये पाड़ी, हाबुडुबु खेये मरि ॥
भेंगे गेलो भक्तिर हाल, छिड़े पड़लो श्रद्धार पाल ।
तरी होलो बानचाल, उपाय कि करि ॥
उपाय ना देखि आर, अंकिचन भेबे सार ।
तरंगे दिये साँतार, श्रीदुर्गानामेर भेला धरि ॥

भावानुवाद

(राग—अलहिया : ताल—कहरवा)

पड़कर इस भवसागर में
है डूब रही तन की नैया ।
माया - पवन मोह- तूफान
बढ़ता ही जावे मैया ॥
मन-मल्लाह अनाड़ी है, फिर
डाँड़ खे रहे गँवार छै ।
विपरीत हवा में चलके,
मैं डूब मरूँ! कौन बचैया ॥
टूटी जाय भक्ति पतवार,
फटा जाय श्रद्धा का पाल ।
डूब चली है अब तो नाव,
कहो करूँ कौन उपैया ॥
ना सूझे एक भी उपाय,
पड़ा सोच में मैं असहाय ।
लहरों में कूद पकड़ ले
मातृनाम - बेड़ा भैया ॥

माँ के सान्निध्य में (१५)

स्वामी अरूपानन्द

(प्रस्तुत संस्मरण के लेखक ब्रह्मलीन स्वामी अरूपानन्दजी माँ सारदा के शिष्य एवं सेवक थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' से अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के वनवासी सेवा केन्द्र, नारायणपुर, जिला बस्तर के सचालक हैं।—स०)

काशीधाम, १६-१२-१९१२, सन्ध्या ७ बजे

माँ अपने कमरे में लेटे-लेटे ही बातचीत कर रही हैं। मैंने भक्तों को होनेवाले दर्शन की बात उठायी और पूछा, "माँ, लोगों को ये जो दर्शन आदि होते हैं, वे सब क्या भाव में होते हैं या कि इन्हीं आँखों से ?"

माँ—सभी भाव में होता है। पर मैंने कामारपुकुर में इन्हीं आँखों से देखा था, राधू की उमर की (११-१२ साल की) एक गेरुआधारी लड़की को, सिर पर रूखे बाल थे, गले में रुद्राक्ष की माला थी। मैं जहाँ जाती, वहीं वह साथ-साथ जाती,—अभी सामने तो अभी पीछे।

"फिर जब बेलुड़ में—तब वह नीलाम्बर बाबू के मकान में था—पंचतपा की, जोगेन (योगीन-माँ) भी साथ थी, उस साधना के बाद वह कहीं गायब हो गयी, फिर उसे नहीं देखा।"

मैं—तपस्या की क्या आवश्यकता है ?

माँ—तपस्या जरूरी है। देखो न, जोगेन अभी भी कितना उपवास करती है। बड़ी तपस्विनी है। गोलाप को जप में सिद्धि है।

"नरेन (स्वामी विवेकानन्द) की माँ मुझे देखने आयी थी। नरेन ने उससे कहा, 'तुमने शायद तपस्या की थी इसीलिए विवेकानन्द को पुत्र के रूप में तुमने पाया। फिर और तपस्या करो, हो सकता है और एक मिल जाय।' "

माँ ने पंचवटी में ठाकुर की तपस्या की बात कही। इस पर मैं बोला, "व्याकुलता के कारण उन्हें होश नहीं रहता था, गंगा का ज्वार सिर पर से निकल जाता था। तुम उनकी बात क्यों कह रही हो? पंचतपा आदि करके शरीर को कष्ट देना क्या ठीक है?"

माँ—पार्वती ने भी तो शिव को पाने के लिए कष्ट किया था।

मैं—शिवजी ने भी तो किया था—ध्यानस्थ होकर।

माँ—हाँ, पर लोगों के लिए यह सब करना पड़ता है। नहीं तो वे लोग कहेंगे, 'अरे, ये तो हमारी ही तरह खाते-पीते हैं!' फिर पंचतपा आदि तो स्त्रियों के लिए हैं—स्त्रियाँ क्या व्रत आदि नहीं करतीं?

मैं—हाँ, समझा। जैसे व्रत किये जाते हैं, वैसे ही यह सब भी व्रत है।

माँ—ठाकुर ने सब प्रकार की साधनाएँ की थीं। कहते—'मैंने साँचा बना दिया, अब तुम लोग उसमें डालकर गढ़ लो।'

मैं—साँचे में ढालने का क्या अर्थ?

भूदेव—अर्थ है ठाकुर का चिन्तन करना।

माँ—इसने समझा है। साँचे में ढालने का मतलब है

ठाकुर का ध्यान और चिन्तन करना। ठाकुर का चिन्तन करने से ही सब प्रकार के भाव मिल जाएँगे। उन्होंने जो कुछ किया, उस सबका चिन्तन करना। ठाकुर कहते, 'जो मेरा स्मरण करता है, उसे कभी भी खाने-पीने का कष्ट नहीं रहता।'

माकू—क्या उन्होंने स्वयं ऐसा कहा था?

माँ—हाँ, यह उनके मुँह की बात है। उनका स्मरण करने से कोई दुःख नहीं रहता। देख नहीं रही हो, उनके सभी भक्त आनन्द में हैं। उनके भक्तों के समान और कहीं देखने को नहीं मिलते। यह देखो न, काशी में कितने साधू देख रही हूँ, पर उनके भक्तों के समान इनमें भला कौन है?

मैं—उसका कारण है, माँ! मानो अभी ही एक बाजार उठा है। उसके सारे चिह्न, आदमी आदि अभी भी विद्यमान हैं—ठाकुर के अन्तरंग भक्त सब अभी भी हैं। लगता है वे पास ही हैं, ज्यादा दूर नहीं गये हैं—पुकारने से ही उनका उत्तर मिलेगा।

माँ—कितने लोग तो (उत्तर) पा भी रहे हैं!

मैं—कृष्ण, राम ये सब लगता है कितने पहले के हैं! मानो उत्तर पाने के लायक नजदीक नहीं हैं।

माँ—हाँ, ठीक कहते हो।

मैंने काशीपुर उद्यानभवन की बात चलाकर कहा, "ऐसे स्थान में अब कोई साहब रह रहा है।"

माँ—काशीपुर का बगीचा उनकी अन्तिम लीला का स्थान रहा है। कितनी तपस्या, ध्यान, समाधि वहाँ हुई है! उनकी महासमाधि का स्थान है—सिद्धस्थान है। वहाँ ध्यान करने से (व्यक्ति) सिद्ध होता है।

"ठाकुर यदि उनको (मालिकों को) सपना देकर स्थान दिलवा दें तो बात बन जाएगी।

"इसी काशीपुर में एक दिन निरंजन (स्वामी निरंजनानन्द) और अन्य लड़कों ने खजूर का कच्चा रस पीने की योजना बनायी। मैं देखती क्या हूँ कि ठाकुर भी उन लोगों के पीछे पीछे जा रहे हैं। दूसरे दिन जब मैंने उनसे इसकी चर्चा की तो बोले, 'वह सब तुम्हारी कल्पना है, रसोई के धुएँ से तुम्हारा दिमाग गरम हो गया है!'*

---

*इस घटना का जरा विस्तार से वर्णन नीरद महाराज की माता ने श्री माँ से इस प्रकार सुना था:—ठाकुर उस समय काशीपुर के उद्यानभवन में अत्यन्त बीमार थे। इतने कमजोर हो गये थे कि बिस्तर पर ही पड़े रहते थे। स्वामीजी (विवेकानन्दजी) और अन्य भक्तगण सब समय उनकी सेवा में जुटे हुए थे। एक दिन उन लोगों ने ठीक किया कि सन्ध्या समय बगीचे के एक कोने के खजूर पेड़ से रस निकालकर पीएँगे। ठाकुर को उन लोगों ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बताया। शाम के समय वे लोग उस पेड़ की ओर गये। श्री माँ तब उसी मकान में रहती थीं। उन्होंने अचानक देखा कि ठाकुर तीर के वेग से नीचे गये। माँ यह देख चौंक उठीं। सोचने लगीं—यह क्या सम्भव है! जिन्हें करवट बदलने तक में मदद देनी पड़ती है, वे ऐसा कैसे कर सकते हैं! पर आँखों देखे को झुठलाया भी तो नहीं जा सकता। तब वे ऊपर ठाकुर के कमरे में गयीं। देखा, ठाकुर बिस्तर पर नहीं हैं, कमरा खाली है। माँ भय से विह्वल हो उठीं और चारों ओर उन्हें खोजने लगीं। उन्हें न पा वे नीचे अपने कमरे में लौट आयीं और विषम चिन्तातुर हो सोचने लगीं—यह क्या घट गया भला। कुछ समय पश्चात् उन्होंने देखा, ठाकुर पहले की ही तरह तीर की गति से अपने कमरे में लौट आये। बाद में माँ ने जब

"ढाका में विजय गोसाईं (विजयकृष्ण गोस्वामी) ने भी (ठाकुर को) देखा था—शरीर को दबाकर !

"उनके जाने के बाद नरेन आदि ने कहा था, 'यह मकान कम से कम कुछ दिन तो और रहे, हम लोग भीख माँगकर माँ को खिलाएँगे । अभी तो माँ का दुःख इतना ताजा है ।' राम दत्त आदि ने कहा, 'तुम लोगों को भीख माँगकर और खिलाना नहीं पड़ेगा ।' मकान का हिसाब चुकता कर दिया ।

"इस गिरीशबाबू को ही लो न, अब तो सभी बड़े-बड़े भक्त हैं ! बलरामबाबू भी हैं ! पर हाँ, गृहस्थों में बलरामबाबू सबसे बड़े भक्त थे । सब भक्तों की तरह भक्त थे । कौन आये ?—भक्त आये ! आये, गये, प्रणाम किया ! *

उनके पास जाकर इस सम्बन्ध में पूछा, तो वे बोले, "तुमने देख लिया क्या ?" फिर कहा, "लड़के लोग यहाँ आये हैं, बच्चे हैं । आनन्द मनाते हुए वे लोग इस बगीचे के एक कोने के खजूर पेड़ का रस पीने जा रहे थे । मैंने देखा उस पेड़ के नीचे एक काला नाग बैठा है, वह इतना क्रोधी है कि सबको डस लेता । लड़कों को यह मालूम नहीं था । इसीलिए मैं दूसरे रास्ते से वहाँ गया और साँप को बगीचे से भगा आया । उससे कह आया, 'और कभी यहाँ आना मत ।'" माँ तो यह सुनकर अवाक् हो गयीं । ठाकुर ने उस समय इस घटना के बारे में किसी से कहने को मना किया था ।

* पहली बार वृन्दावन से लौटकर माँ वर्धमान होकर कामारपुकुर जा रही थीं । अर्थाभाव के कारण वर्धमान से उचालन तक उन्हें पैदल ही जाना पड़ा । उससे माँ बहुत थक गयीं । साथ में गोलाप-माँ और योगानन्द स्वामी आदि थे । उचालन में गोलाप-माँ ने किसी

"शरत् जितने दिन है, उतने दिन मेरा वहाँ (उद्-बोधन, कलकत्ता) रहना चलेगा। उसके बाद ऐसा कोई मुझे नहीं दिखता, जो मेरा बोझा ले। जोगीन (योगानन्द स्वामी) था। कृष्णलाल भी है—धीर, स्थिर—जोगीन का चेला।. . .शरत् सब प्रकार से समर्थ है। शरत् है मेरा बोझ सँभालनेवाला।"

मैं—महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) सकेंगे नहीं?

माँ—नहीं, राखाल की प्रवृत्ति वैसी नहीं है। झंझट नहीं संभाल सकता। मन-मन कर सकता है या फिर किसी से करा सकता है। राखाल का भाव ही अलग है।

मैं—और बाबूराम महाराज?

माँ—नहीं, वह भी नहीं सकता।

मैं—पर मठ तो वे चला ही रहे हैं।

माँ—सो ठीक है, पर औरतों की झझट नहीं सँभाल सकेगा। दूर से कुशल-समाचार ले सकता है।

"यह जो राधू की शादी की बात है—यह तो माँ का बोझा है।. . .कौन इसे अपनी माँ का बोझा समझ रहा है? अपने जन भला कितने हैं?—दो-चार, बस! ठाकुर ने कहा था, 'अन्तरग भला कितने होंगे!'"

मैं—किन-किनको ठाकुर ने अपना अन्तरग माना था, बताओ न? मैं तो कुछ भी पहचान नहीं पाया।

माँ—क्या जानूं! पर जो लोग (पहले) आये थे, वे ही आये हैं।

प्रकार थोडी खिचड़ी पकायी। मां ने भूख के मारे वही ग्रहण किया था और बार-बार कहा था, "ओ गोलाप, तुमने अमृत ही राँधा है!"

एक भक्त की बात पर वे बोलीं, "हाँ, वही होगा। उसके भीतर का स्वभाव आनन्दी है। बाहर में ऐसा है।"

मैं--मुझे चतुर्भुज रूप के दर्शनों की साध नहीं है। मैं तो जो है उसी में सन्तुष्ट हूँ।

माँ--मेरा भी वैसा ही है। वह सब देखकर क्या होगा? हम लोगों के ये ठाकुर हैं--वे ही सब कुछ हैं।

□

सूचना

हमें यह सूचित करते हुए हर्ष हो रहा है कि बेलुड़ मठ में एक पुरालेखागार (आर्काइव) एवं संग्रहालय (म्यूजियम) प्रारम्भ किया गया है, जिसे अनतिदूर भविष्य में वर्तमान मुख्य कार्यालय भवन में, उसकी आवश्यक मरम्मत और नव सज्जा के बाद, स्थापित किया जा रहा है।

श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा, स्वामी विवेकानन्द एवं श्रीरामकृष्ण के अन्य लीला-सहचरों के द्वारा उपयोग में लाये गये वस्त्र, घड़ियाँ, जूते, उनके पत्र, लेखों की पाण्डुलिपियाँ, व्यक्तिगत दैनन्दिनियाँ, पुस्तकें और उन्हें भेंट किये गये सम्मान-पत्र आदि इस संग्रहालय में सुरक्षित रखे जाएँगे। साथ ही माँ सारदा एवं श्रीरामकृष्ण के इन शिष्यों के चरणों की छापें भी सुरक्षित रखी जाएँगी।

जिन भक्तों और मित्रों के पास ऊपर बतायी गयी वस्तुओं में से कुछ भी हो, उनसे साग्रह अनुरोध है कि वे उन वस्तुओं को बेलुड़ मठ के अधिकारियों को कृपया सौंप दें, जिससे वे वैज्ञानिक तरीके से सुरक्षित रखी जा सकें तथा केवल इस पीढ़ी के ही नहीं बल्कि आनेवाली सैकड़ों पीढ़ियों के भक्तों और जनसाधारण लाभ के लिए उनका प्रदर्शन किया जा सके।

महासचिव
रामकृष्ण मठ/
बेलुड़ मठ